ASG
105

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
कृपया पुस्तक के ऊपर कोई निशान आदि
न लगायें।

# पुस्तकालय

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वर्ग संख्या............ आगत संख्या............

पुस्तक-विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित ३० वें दिन यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए। अन्यथा ५० पैसे प्रति दिन के हिसाब से विलम्ब-दण्ड लगेगा।

# बाल सत्यार्थप्रकाश

विश्व नाथ विद्यालंकार

पं० विश्वनाथ जी द्वारा प्राप्त संग्रह
पुस्तकालय गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
8249
DONA

ओ३म्

# बाल सत्यार्थप्रकाश

लेखकः—

प्राफसर विश्वनाथ विद्यालंकार
वेदोपाध्याय, गुरुकुल काँगड़ी हरिद्वार

प्रकाशकः—

म० राजपाल एण्ड संज़,
संचालक
आर्य पुस्तकालय व सरस्वती आश्रम
लाहौर।

मूल्य दस आना

# भूमिका

१६वीं सदी संसारभर के लिये और विशेषतया भारतवर्ष के लिये सौभाग्य की सदी थी जिसमें कि महर्षि दयानन्द ने जन्म ग्रहण किया। भारतवर्ष उस समय कुरीतियों का शिकार था और मिथ्याज्ञान तथा मिथ्या कल्पनाओं के गाढ़ अन्धकार से आच्छादित था। महर्षि दयानन्द की कृपा से, भारत पर, सत्यार्थ-प्रकाश का प्रचण्ड मार्त्तण्ड चमका। इसकी चमक ने भारतवासियों में चकाचौंध पैदा कर दिया। वास्तव में सत्यार्थ-प्रकाश सत्य-सत्य बातों और घटनाओं का वर्णन करता है। सत्यार्थ-प्रकाश सत्य का महास्रोत है, बहुमूल्य विचाररत्नों का रत्नाकर है, और सत्तर्क का अक्षय भण्डार है। सत्यार्थ-प्रकाश ने स्त्री-जगत् और शूद्र-जगत् को वेद पढ़ाया है, दलितों को उच्चासन पर बिठाया है, मिथ्यामतवादियों का दलन किया है, तथा राष्ट्रीय, सामाजिक और आध्यात्मिक स्वतन्त्रता का सच्चा पाठ पढ़ाया है, सत्यार्थ-प्रकाश ने शिक्षा के सच्चे स्वरूप का प्रदर्शन किया है, निःशक्त और निर्बल भारतवर्ष को सशक्त और सबल बनाने के लिए अमोघ ब्रह्मचर्यौषध का पान कराया है, भारत के सच्चे आदर्श के मस्तक को ऊँचा किया है। कहाँ तक कहूँ ? सत्यार्थ-प्रकाश भारत के दुःख, दारिद्र्य, कुरीतियों, तथा गाढ़ अज्ञान के भयंकर महारोग के उच्छेद के लिए एक दिव्य महौषध सिद्ध हो रहा है। परन्तु दुःख यह है कि सत्यार्थ-प्रकाश का जितना स्वाध्याय होना चाहिए था उतना अभी तक हुआ नहीं। युवावस्था और वृद्धावस्था के लोग सचाई के इतने भिखारी नहीं होते जितने कि बालक हुआ करते हैं। बालकों के

नरम मस्तिष्कों पर सत्यार्थ-प्रकाश का यदि प्रभाव पड़ सके तो भारत के महारोगों की निवृत्ति की शीघ्र सम्भावना हो सकती है। आजकल बालकों को सत्यार्थ-प्रकाश के उज्ज्वल प्रकाश में लाने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। परन्तु अभी तक सत्यार्थ-प्रकाश का कोई ऐसा समुचित लघुरूप प्रकाशित नहीं हुआ, जो सत्यार्थ-प्रकाश के सिद्धान्तों को स्पष्ट तथा संक्षेप में, बालकों के सम्मुख उपस्थित कर सके। मैंने इस लघुरूप द्वारा यत्न किया है कि सत्यार्थप्रकाश का बालकोपयोगी अंश बालकों के सामने उपस्थित कर सकूँ। बालकों के लिये १० समुल्लासों को ही अधिक उपयोगी जानकर मैंने इन्हीं १० समुल्लासों का संक्षेप किया है, शेष ४ समुल्लासों का नहीं। साथ ही अन्त में ऋषि के "स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश" तथा "आर्य-समाज के नियमों" को भी स्थान दे दिया है ताकि बालक इन्हें भी स्मरण कर लें। मुझे विश्वास है कि आर्य पाठ-शालाएँ इस "बाल सत्यार्थप्रकाश" को अपनाकर लेखक के परि-श्रम को सफल बनाएँगी।

विश्वनाथ विद्यालङ्कार
प्रोफेसर, वैदिक साहित्य,
गुरुकुल काँगड़ी, विश्वविद्यालय
हरिद्वार

# विषय सूची


विषय — पृष्ठ

## प्रथम समुल्लास

मङ्गलाचरण — १
परमात्मा का निज नाम — १
परमात्मा के नामों की संख्या — २
अग्नि आदि नामों के अर्थों की पहचान — २
परमात्मा के नाम सार्थक हैं — ३
निर्गुण तथा सगुण परमात्मा — ३
परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना — ४
तीन बार शान्ति-पाठ — ५

## द्वितीय समुल्लास

तीन गुरु — ५
बालक के प्रति माता-पिता के कर्त्तव्य — ६
वीर्यरक्षा तथा अन्य उपदेश — ७
भूत प्रेत — ८
ज्योतिः शास्त्र और जन्मपत्र — ८
शीतला और मंत्र-तंत्र — १०

## तृतीय समुल्लास

सच्चे आभूषण — १०
गुरुकुल शिक्षा — ११
शिक्षा सब को बाधित रूप से प्राप्त करनी चाहिए — १२
क्या स्त्री और शूद्र भी वेद पढ़ें — १३
पढ़ने-पढ़ाने में विघ्न — १५
ब्रह्मचर्य के तीन प्रकार — १५
स्त्रियों का ब्रह्मचर्यकाल तथा आजीवन ब्रह्मचर्य — १६
ब्रह्मचारी के विशेष नियम — १६
विवाह-काल — १८
संध्योपासना वा ब्रह्मयज्ञ — १८
सन्ध्योपासन में प्राणायाम की विधि — १९
प्राणायाम के लाभ — २०
अग्निहोत्र या देवयज्ञ — २०
अग्निहोत्र के लाभ — २१
धर्माधर्म का लक्षण — २१
धर्म के अधिकारी और धर्म का अभ्रान्त लक्षण — २२
परीक्षा के पाँच प्रकार — २२
ऋषिकृत ग्रन्थों की विशेषता — २३
क्या छः दर्शनों में परस्पर विरोध नहीं है? — २४

| विषय | पृष्ठ |
|---|---|
| **चतुर्थ समुल्लास** | |
| समावर्तन | २४ |
| विवाह में गुरु की आज्ञा | २५ |
| निकट और दूर विवाह करने के गुण-दोष | २५ |
| विवाह का समय | २६ |
| सदृश पति की खोज | २६ |
| विवाह माता और पिता के आधीन न होना चाहिए | २७ |
| अन्य वर्णस्थ माता-पिता से क्या ब्राह्मण हो सकता है ? | २६ |
| वर्णपरिवर्तन में प्रधानतया युक्ति | २६ |
| वर्ण-व्यवस्था | ३१ |
| वर्णों के अपने २ कर्त्तव्य | ३३ |
| पँच महायज्ञ | ३४ |
| पँच महायज्ञों के फल | ३६ |
| स्त्री-पुरुष के अन्य गृहस्थ-सम्बन्धी कर्त्तव्य | ३७ |
| गृहस्थाश्रम अन्य आश्रमों से छोटा है या बड़ा ? | ३६ |
| **पंचम समुल्लास** | |
| वानप्रस्थ की विधि | ३६ |
| वानप्रस्थी के कर्त्तव्य | ४० |
| संन्यास की विधि | ४० |
| संन्यासी के चिह्न | ४१ |
| संन्यासी के कर्त्तव्य | ४१ |
| संन्यास का अधिकार | ४१ |
| संन्यास ग्रहण की आवश्यकता | ४२ |
| भिन्न २ आश्रमों के कर्त्तव्य | ४३ |
| **षष्ठ समुल्लास** | |
| राजा | ४३ |
| राष्ट्र की तीन सभाएँ | ४४ |
| इन सभाओं के सभासदों तथा सभापति के गुण | ४४ |
| सभा या परिषद् के सभासदों की संख्या | ४५ |
| राजा, राजसभाओं तथा प्रजा का परस्पर सम्बन्ध | ४६ |
| नियम बनाना | ४६ |
| सभापतियों तथा सभासदों को राजाज्ञा | ४६ |
| मन्त्रि मण्डल | ४७ |
| नगरसभा या म्युनिसिपेलिटी | ४८ |
| न्यायालय | ४८ |
| शस्त्रास्त्र, सेना और किला | ४६ |
| अपने सैनिकोंके साथव्यवहार | ५० |
| राजदूत अर्थात् Ambassador | ५१ |

| विषय | पृष्ठ |
|---|---|
| गुप्तचर | ५१ |
| राज्य कर्मचारी वर्ग | ५२ |
| युद्ध में किन पर शस्त्रपात करना चाहिये | ५२ |
| युद्ध में पकड़े गये शत्रु के साथ व्यवहार | ५२ |
| पराजित राजा और उसका राज्य | ५३ |
| राजकर्मचारियों का वेतन | ५४ |
| राज्य-कर | ५४ |

## सप्तम समुल्लास

| | |
|---|---|
| ईश्वर का स्वरूप | ५५ |
| ईश्वर की सत्ता | ५६ |
| ईश्वर की व्यापकता | ५७ |
| ईश्वरदयालु और न्यायकारीहै | ५७ |
| ईश्वर की निराकारता | ५८ |
| ईश्वर सर्वशक्तिमान् है | ५८ |
| ईश्वर अवतार नहीं लेता | ५९ |
| ईश्वर पाप क्षमा नहीं करता | ५९ |
| ईश्वर में इच्छा है या नहीं ? | ६० |
| जीव स्वतन्त्र है या परतन्त्र ? | ६० |
| जीव और ईश्वर का स्वरूप | ६१ |
| जीव और ईश्वर का परस्पर सम्बन्ध | ६१ |

| विषय | पृष्ठ |
|---|---|
| ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना | ६२ |
| स्तुति के दो प्रकार | ६२ |
| प्रार्थना के दो प्रकार | ६३ |
| प्रार्थना और यत्न | ६३ |
| उपासना के दो प्रकार | ६४ |
| उपासना का फल | ६४ |
| उपासना की तय्यारी | ६५ |
| चारों वेदों का कर्त्ता | ६६ |
| वेदों के उपदेश का प्रकार | ६६ |
| वेदों की आवश्यकता | ६७ |

## अष्टम समुल्लास

| | |
|---|---|
| जगत् की पूर्वावस्था | ६८ |
| जगत् की उत्पत्ति के कारण | ६८ |
| परमात्मा और जगत् में भेद | ६९ |
| निराकार ईश्वर से जगत् की उत्पत्ति | ७१ |
| ईश्वर की आवश्यकता | ७१ |
| कल्पनान्तर में सृष्टि एक जैसी ही उत्पन्न होती है | ७२ |
| सृष्टि प्रवाह से अनादि है | ७३ |
| मनुष्य सृष्टि | ७३ |
| मनुष्य सृष्टि का आदि स्थान तथा आर्यावर्त्त | ७४ |

| विषय | पृष्ठ |
|---|---|
| चन्द्र और तारा आदि में मनुष्य सृष्टि तथा वैदिक ज्ञान | ७४ |
| पृथिवी घूमती है | ७५ |
| पृथिवी का धारण कौन करता है ? | ७६ |
| **नवम समुल्लास** | |
| विद्या और अविद्या | ७७ |
| मुक्ति और बन्ध | ७८ |
| मुक्ति और बन्ध का कारण | ७९ |
| मुक्त जीव की अवस्था, स्वर्ग तथा नरक | ७९ |
| मुक्ति से लौटने में वैदिक प्रमाण | ८० |
| मुक्ति से लौटने में युक्तियाँ | ८१ |

| विषय | पृष्ठ |
|---|---|
| जन्म व्यवस्था | ८३ |
| **दशम समुल्लास** | |
| धर्म या सदाचार | ८५ |
| विदेश गमन से सदाचार नष्ट नहीं होता | ८६ |
| कच्चा और पक्का भोजन | ८८ |
| अपने हाथ की रसोई | ८९ |
| भक्ष्य और अभक्ष्य पदार्थ | ९० |
| एक पात्र में साथ-साथ भोजन | ९० |
| **परिशिष्ट प्रकरण** | |
| परमात्मा के सौ नाम | ९१ |
| स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश | ९५ |

॥ ओ३म् ॥

# बाल सत्यार्थप्रकाश

## प्रथम समुल्लास

सब शुभ कर्मों के आरम्भ में 'ओ३म्' का स्मरण करना चाहिये। "ओ३म्"—यह परमात्मा का नाम है।

मंगलाचरण — ग्रन्थ के आरम्भ में भी "ओ३म्" लिखना चाहिये। "अथ" शब्द भी ग्रन्थ के आरम्भ में प्राचीन ऋषि मुनि लिखा करते थे। किन्तु आधुनिक ग्रन्थों में "श्री गणेशाय नमः" "सीतारामाभ्यां नमः" "राधाकृष्णाभ्यां नमः" "श्री गुरुचरणाभ्यां नमः" इत्यादि वचन ग्रन्थ के आरम्भ में मङ्गलाचरण के लिए देखने में आते हैं। इनको बुद्धिमान् लोग वेदों और शास्त्रों के विरुद्ध होने के कारण मिथ्या ही समझते हैं। इसलिये "ओ३म्" या "अथ" शब्द ग्रन्थ के आदि में लिखना चाहिये।

"ओ३म्"—परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम है। क्योंकि इस एक नाम में परमेश्वर के बहुत से नाम आ जाते हैं।

परमात्मा का निज नाम — *कठोपनिषद् में लिखा है कि "सब वेद जिस प्रापणीय प्रभु का कथन करते हैं, तथा जिसकी प्राप्ति की इच्छा से तपस्वी ब्रह्मचर्य के नियमों का

---

*सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदँ संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥ अ० १, व० २, मं० १५ ॥

पालन करते हैं उसका नाम 'ओ३म' है।" इस प्रकार सब वेदादि शास्त्रों में परमेश्वर का प्रधान और निज नाम "ओ३म्" ही कहा है।

सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास में परमात्मा के १०० नाम‡ लिखे हैं। परन्तु उन नामों से भिन्न परमात्मा के असंख्य नाम हैं। क्योंकि जैसे परमेश्वर के अनन्त गुण-कर्म-स्वभाव हैं वैसे उसके अनन्त नाम भी हैं। परमात्मा के प्रत्येक गुण-कर्म-स्वभाव की दृष्टि से उसका एक २ नाम है। इससे परमात्मा के १०० नाम समुद्र के सामने बिन्दुवत् हैं क्योंकि वेदादि शास्त्रों में परमात्मा के असंख्य गुण-कर्म-स्वभाव व्याख्यात हैं।

परमात्मा के नामों की संख्या

"ओ३म्" और "अग्नि" आदि नामों के मुख्य अर्थ से परमेश्वर ही का ग्रहण होता है। परन्तु "ओ३म" तो केवल परमात्मा ही का नाम है और "अग्नि" आदि नामों से परमेश्वर के ग्रहण में प्रकरण और विशेषण नियामक हैं। प्रकरण, जैसे किसी ने किसी से कहा कि हे भृत्य! तू सैन्धव ले आ। तब उसको प्रकरण अर्थात् समय का विचार करना चाहिये। क्योंकि "सैन्धव" नाम दो पदार्थों का है, घोड़े का और लवण का। जो स्वामी का गमन-समय हो तो घोड़ा, और भोजन-काल हो तो लवण लाना उचित है। जो गमन-समय में लवण और भोजन-समय में घोड़ा ले आवे तो उसका स्वामी उस पर क्रुद्ध होकर कहेगा कि तू मूर्ख पुरुष है, गमन-समय में लवण और भोजन-समय में घोड़े के लाने का क्या प्रयोजन था? तू प्रकरणविद् नहीं है। नहीं तो जिस समय जिसे लाना चाहिये था उसे ही लाता। इससे सिद्ध हुआ कि जहाँ जिसका ग्रहण करना उचित हो

अग्नि आदि नामों के अर्थों की पहचान

‡परमात्मा के १०० नामों पर विचार, देखो पृष्ठ १५३॥

वहाँ उसी अर्थ का ग्रहण करना चाहिये। इसे ही प्रकरण कहते हैं।

इसी प्रकार जहाँ २ स्तुति, प्रार्थना तथा उपासना हो, तथा जहाँ सर्वज्ञ, व्यापक, शुद्ध, सनातन और सृष्टिकर्त्ता आदि विशेषण लिखे हों वहाँ २ अग्नि आदि नामों से परमेश्वर का ग्रहण होता है। और जहाँ २ उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय का सम्बन्ध हो, तथा जहाँ अल्पज्ञ, जड़, दृश्य आदि विशेषण लिखे हों वहाँ २ अग्नि आदि नामों से परमेश्वर का ग्रहण नहीं होता, क्योंकि वह उत्पत्ति आदि व्यवहारों से पृथक् है।

इसी प्रकार जह -जहाँ सर्वज्ञादि विशेषण हों वहाँ २ परमात्मा का, और जहाँ-जहाँ इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और अल्पज्ञादि विशेषण हों वहाँ २ जीव का अर्थ लेना चाहिए।

परमात्मा के नाम सार्थक हैं

परमेश्वर का कोई भी नाम अनर्थक नहीं, जैसे कि लोक में दरिद्री आदि के धनपति आदि नाम अनर्थक होते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि परमात्मा के नाम कहीं उसके गुण, कहीं कर्म और कहीं स्वभावरूपी अर्थों के वाचक हैं। अतः ओ३म् आदि नाम सब सार्थक हैं। जैसे स्वप्रकाश होने से अग्नि, विज्ञानस्वरूप होने से मनु, सबका पालन करने और परमैश्वर्यवान् होने से "इन्द्र", सब का जीवन-मूल होने से प्राण, और निरन्तर व्यापक होने से परमेश्वर का नाम ब्रह्म है।

निर्गुण तथा सगुण परमात्मा

रूप, रस, स्पर्श और गन्ध आदि जड़ के गुणों, तथा अविद्या, अल्पज्ञता, राग, द्वेष, और क्लेश आदि जीव के गुणों से परमात्मा पृथक् है। परमात्मा जड़ और जीव के इन गुणों से रहित है, इसलिये परमात्मा को निर्गुण कहते हैं। तथा वह सर्वज्ञता, पवित्रता, अनन्तबल, आनन्द आदि गुणों से युक्त है इसलिये पर-

मेश्वर को सगुण भी कहते हैं। जैसे पृथिवी गन्ध आदि गुणों से युक्त होने से सगुण और इच्छा आदि गुणों से रहित होने के कारण निर्गुण है वैसे ही जड़-जगत् और चेतन-जीव के गुणों से रहित होने के कारण परमेश्वर निर्गुण तथा सर्वज्ञत्वादि अपने गुणों से युक्त होने के कारण वह सगुण भी है।

संसार में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं जो सगुण और निर्गुण न हो। जड़-जगत् भी चेतन के गुणों से रहित होने से निर्गुण तथा अपने गुणों से युक्त होने से सगुण है।

इसी प्रकार जीव भी जड़ के गुणों से रहित होने से निर्गुण तथा अपने गुणों से युक्त होने के कारण सगुण है।

परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना

स्तुति, प्रार्थना और उपासना श्रेष्ठ की ही की जाती है। श्रेष्ठ उस को कहते हैं जो कि गुण-कर्म-स्वभाव और सत्य व्यवहारों में सबसे अधिक हो। उन सब श्रेष्ठों में भी जो अत्यन्त श्रेष्ठ है उसको परमेश्वर कहते हैं—जिसके कि तुल्य न कोई हुआ, न है, और न होगा। जब तुल्य नहीं तो उससे अधिक क्योंकर हो सकता है। जैसे परमेश्वर के सत्य, न्याय, दया, सर्वसामर्थ्य और सर्वज्ञत्वादि अनन्त गुण हैं वैसे अन्य किसी जड़ पदार्थ या जीव के नहीं हैं। जो पदार्थ सत्य है उसके गुण-कर्म-स्वभाव भी सत्य होते हैं। इसलिये मनुष्यों को योग्य है कि वे परमेश्वर ही की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करें, उससे भिन्न की कभी न करें। क्योंकि ब्रह्मा, विष्णु, महादेव नामक पूर्वज महाशय विद्वानों ने, दैत्य-दानव आदि निकृष्ट मनुष्य और अन्य साधारण मनुष्यों ने भी परमेश्वर ही में विश्वास करके उसकी स्तुति, प्रार्थना और उपासना की, उससे भिन्न की नहीं की, वैसे हम सबको करना योग्य है।

शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः,—इस प्रकार तीन बार शान्ति-पाठ का यह प्रयोजन है क संसार में त्रिविध-ताप अर्थात् तीन प्रकार के जो दुःख हैं उनकी शान्ति अर्थात् निवृत्ति की भावना तीन बार शान्ति-पाठ द्वारा की जाय। वे तीन प्रकार के दुःख निम्नलिखित हैं—

तीन बार शान्ति पाठ

पहिला "आध्यात्मिक दुःख"

जो कि आत्मा और शरीर में अविद्या, राग, द्वेष, मूर्खता और ज्वर आदि के कारण होता है।

दूसरा "आधिभौतिकदुःख"

जो कि शत्रु, व्याघ्र, और सर्प आदि से प्राप्त होता है।

और तीसरा "आधिदैविक दुःख"

जो कि अतिवृष्टि, अतिशीत, अत्युष्णता तथा मन और इन्द्रियों की अशान्ति के कारण होता है।

# द्वितीय समुल्लास

## शिक्षा विषय

### मातृमान् पितृमानाचार्यवान पुरुषो वेद

यह "शतपथ-ब्राह्मण" का वचन है। वस्तुतः जब तीन शिक्षक अर्थात् एक माता, दूसरा पिता और तीसरा आचार्य उत्तम होवें तभी मनुष्य ज्ञानवान् होता है। वह सन्तान बड़ी भाग्यवान् है जिसके माता और पिता धार्मिक तथा विद्वान् हों। जितना माता से सन्तानों को उपदेश और उपकार पहुँचता है, उतना किसी से नहीं। जैसे माता सन्तानों पर प्रेम और उनका हित करना चाहती है उतना अन्य कोई नहीं करता। ५ वें वर्ष तक बालकों को माता तथा छठे वर्ष से ८वें वर्ष तक पिता शिक्षा दिया करें। और ९वें वर्ष के

तीन गुरु

आरम्भ में आचार्य कुल में,—जहाँ पूर्ण विद्वान पुरुष और पूर्ण विदुषी स्त्रियाँ शिक्षा और विद्यादान करने वाली हों,—अपने लड़के और लड़कियों को माता-पिता भेज दें। उन ही के सन्तान विद्वान्, सभ्य और सुशिक्षित होते हैं जो पढ़ाने में सन्तानों से लाड़ कभी नहीं करते, किन्तु ताड़ना ही करते रहते हैं। जो माता-पिता और आचार्य अपनी सन्तान और शिष्यों का ताड़न करते हैं वे मानो अपनी सन्तान और शिष्यों को अपने हाथ से अमृत पिला रहे हैं। परन्तु माता, पिता और अध्यापक ईर्ष्या-द्वेष से ताड़न न करें, किन्तु ऊपर से भय-प्रदान और भीतर से कृपा-दृष्टि रखें।

**बालक के प्रति माता पिता का कर्तव्य**

बालकों को माता सदा उत्तम शिक्षा दिया करे जिससे सन्तान सभ्य हो और किसी अङ्ग से कुचेष्टा न करने पावे। बालक जब कुछ बोलने और समझने लगें, तब उन्हें माता-पिता सुन्दर वाणी बोलने की, बड़े, छोटे, मान्य, पिता माता, राजा, विद्वान् आदि के साथ भाषण करने की, तथा उनके साथ बर्ताव करने और उनके पास बैठने आदि की भी शिक्षा देवें; जिससे कहीं उनका अयोग्य व्यवहार न हो, अपितु सर्वत्र ही उनकी प्रतिष्ठा हुआ करे। जिस प्रकार सन्तान जितेन्द्रिय, विद्याप्रिय, और सत्संग में रुचि करने वाली हो, तथा जिस प्रकार उसे सदा सत्य-भाषण, शौर्य, धैर्य और प्रसन्नवदनता आदि गुणों की प्राप्ति हो सके वैसा प्रयत्न माता-पिता करते रहें। तत्पश्चात् बालकों को ऐसे मन्त्र, श्लोक, सूत्र, गद्य और पद्य कण्ठस्थ करावें जिनसे कि अच्छी शिक्षा, विद्या, धर्म और परमेश्वर के सम्बन्ध में, तथा माता, पिता, आचार्य, विद्वान्, अतिथि, राजा, कुटुम्ब, भगिनी और भृत्य आदि से कैसे २ बर्ताव करना इन बातों के सम्बन्ध में उन्हें उपदेश मिल सकें।

वीर्य रक्षा तथा अन्य उपदेश

माता, पिता तथा आचार्य को चाहिये कि वे बालकों को जतला दें कि वीर्य की रक्षा में आनन्द है और उसके नाश करने में दुःख। देखो! जिसके शरीर में वीर्य सुरक्षित रहता है उसके आरोग्य, बुद्धि, बल और पराक्रम बढ़ते हैं और उसे बहुत सुख की प्राप्ति होती है। इसके संरक्षण की यही रीति है कि ब्रह्मचारी, विषयों की कथा, विषयी लोगों के संग, विषयों के ध्यान, स्त्रीदर्शन, एकान्त सेवन, संभाषण और स्पर्श आदि कर्म से पृथक् रहें, और इस व्रत का पालन करता हुआ उत्तम शिक्षा तथा पूर्ण विद्या को प्राप्त हो। देखो! जिसके शरीर में वीर्य नहीं होता वह नपुंसक और महाकुलक्षणी होता है, और जिसे प्रमेह रोग हो जाता है वह दुर्बल, निस्तेज, और निर्बुद्धि हो जाता है। साथ ही उत्साह, साहस धैर्य, बल और पराक्रम आदि गुणों से रहित होकर नष्ट हो जाता है।

इसी प्रकार अन्य २ उत्तम शिक्षाएँ भी माता-पिता और आचार्य बालकों को देते रहें जिससे कि वे प्रतिज्ञा भंग न करें। छल कपट और कृतघ्नता से दूर रहें। क्रोधादि दोष और कटुवचन छोड़कर शान्त और मधुर वचन ही बोलें। बहुत बकवाद न करें। जितना बोलना चाहिये उतना ही बोलें, न न्यून और न अधिक बोलें। बड़ों का आदर सत्कार करें। उनके सामने उठकर, जाकर, उन्हें उच्चासन पर बिठाएं, उन्हें प्रथम नमस्ते करें, उनके सामने उत्तमासन पर न बैठें। सभा में ऐसे स्थान पर बैठें जैसी कि अपनी योग्यता हो, ताकि कोई उन्हें वहां से उठा न दे। विरोध किसी से न करें। गुणों का ग्रहण करें और दोषों को त्यागें। अपने माता, पिता और आचार्य की तन, मन और धन आदि अन्य उत्तम पदार्थों द्वारा प्रीतिपूर्वक सेवा करें। जितनी क्षुधा हो उससे कुछ न्यून भोजन करें तथा मद्य-मांस आदि के सेवन से अलग रहें, इत्यादि।

इसी प्रकार विद्या और धर्म के विरुद्ध, भ्रान्तिजाल में गिराने वाले जो व्यवहार हैं उनका भी उपदेश माता पिता बालकों को कर दें जिससे कि भूत, प्रेत आदि मिथ्या बातों का विश्वास उन्हें न हो। यथाः—

(क)

भूत प्रेत

मृतक शरीर का नाम 'प्रेत' है। जब उस शरीर का दाह हो चुका तब उसका नाम 'भूत' होता है अर्थात् वह अमुक नाम का पुरुष था जो कि अब नहीं है। जितने उत्पन्न हों, वर्त्तमान में आकर न रहें, वे भूतस्थ हैं, इससे उनका नाम भूत है। ऐसा ब्रह्मा से लेकर आज तक के विद्वानों का सिद्धान्त है। परन्तु जिसको शङ्का, कुसंग और कुसंस्कार होता है उसको भय और शङ्कारूप भूत, प्रेत, शाकिनी, डाकिनी आदि भ्रमजाल दुःखदायक होते हैं। देखो जब कोई प्राणी मरता है तब उसका जीव पाप-पुण्य के वश होकर परमेश्वर की व्यवस्था से सुख-दुख के फल भोगने के अर्थ जन्मान्तर धारण करता है। क्या इस अविनाशी परमेश्वर की व्यवस्था का कोई भी नाश कर सकता है? अज्ञानी लोग वैद्यक शास्त्र वा पदार्थ-विद्या के पढ़ने सुनने और विचार से रहित होकर सन्निपात, ज्वरादि शारीरिक और उन्मादादि मानस रोगों का नाम भूत-प्रेतादि धरते हैं।

(ख)

ज्योतिःशास्त्र और जन्म-पत्र

क्या ज्योतिःशास्त्र झूठा है और जन्मपत्र निष्फल हैं? उत्तर— ज्योतिःशास्त्र में जो अंक, बीज तथा रेखागणित विद्या है वह सब सच्ची है और जो फल की लीला है वह सब झूठ। देखो! जैसे पृथिवी जड़ है वैसे ही सूर्यादि लोक भी जड़ हैं। वे ताप और प्रकाशादि के देने से भिन्न कुछ भी नहीं कर सकते। क्या ये चेतन

हैं जो क्रोधित होकर दुःख और शान्त होकर सुख दे सकें ? संसार में जो राजा और प्रजा सुखी हो रहे हैं यह ग्रहों का फल नहीं है। ये सब पाप-पुण्य के फल हैं।

और जो जन्मपत्र है, वह जन्मपत्र नहीं, किन्तु उसका नाम शोकपत्र रखना चाहिये। क्योंकि जब सन्तान का जन्म होता है तब सब को आनन्द होता है परन्तु वह आनन्द तब तक ही होता है जब तक कि जन्मपत्र न बन जाय और ग्रहों का फल न सुन लिया जाय। माता-पिता यदि धनवान् हों तो बहुत सी लाल पीली रेखाओं से चित्र विचित्र, और निर्धन हों तो साधारण रीति से जन्मपत्र बनाकर जब पुरोहित सुनाने को आता है तब बालक के मां-बाप ज्योतिषी जी के सामने बैठ कर कहते हैं कि "इसका जन्म पत्र अच्छा तो है ?" ज्योतिषी कहता है—"जो है सो सुना देता हूँ, इसके जन्म-ग्रह बहुत अच्छे और मित्र-ग्रह भी बहुत अच्छे हैं" इत्यादि बातें सुनकर पिता आदि बोलते हैं "वाह २, ज्योतिषी जी आप बहुत अच्छे हैं।" ज्योतिषी जी समझते हैं कि इन बातों से कार्य सिद्ध न होगा। तब ज्योतिषी बोलता है कि "ये ग्रह तो बहुत अच्छे हैं परन्तु ये क्रूर हैं अर्थात् अमुक ग्रह के योग से ८ वर्ष में इसका मृत्यु योग है"। यह सुनकर माता-पिता पुत्र के जन्म के आनन्द को छोड़ कर शोक-सागर में डूब ज्योतिषी जी से कहते हैं कि—"महाराज जी ! अब हम क्या करें, क्या उपाय करें।" तब ज्योतिषी जी प्रस्ताव करने लगते हैं कि 'ऐसा २ दान करो, ग्रह के मन्त्र का जप कराओ, नित्य ब्राह्मणों को भोजन कराओ तो अनुमान है कि नव ग्रहों के विघ्न हट जायेंगे"। अनुमान शब्द इसलिए है कि जो मर जाय तो कहेंगे कि हम क्या करें परमेश्वर के ऊपर कोई नहीं है, हमने तो बहुत-सा प्रयत्न किया और तुमने कराया, उसके कर्म ऐसे ही थे। और जो बच जाय तो कहते हैं कि देखो ! हमारे

मन्त्र, देवता और ब्राह्मणों की शक्ति है कि तुम्हारे लड़के को बचा दिया।

यहां यह होना चाहिये कि यदि इनके जप पाठ से कुछ न हो तो दूने तिगुने रुपये उन धूर्तों से लेने चाहिएँ, और जो बच जाय तो भी ले लेने चाहिएं। क्योंकि जैसे ज्योतिषियों ने कहा कि "इसके कर्म और परमेश्वर के नियम तोड़ने का सामर्थ्य किसी का नहीं", वैसे गृहस्थ भी कहें कि "यह अपने कर्म्म और परमेश्वर के नियम से बचा है, तुम्हारे करने से नहीं।"

( ग )

शीतला और मन्त्र-तन्त्र

अब रह गये शीतला और मन्त्र-तन्त्र आदि। ये भी ऐसे ही ढोंग हैं। कोई कहता है कि "जो हम मन्त्र पढ़कर डोरा वा यन्त्र बना देवें तो परमेश्वर, देवता और पीर उस मन्त्र-यन्त्र के प्रताप से कोई विघ्न नहीं होने देते"। उनको यही उत्तर देना चाहिए कि क्या तुम मृत्यु, परमेश्वर के नियम और कर्म फल से बच सकोगे ?, तुम्हारे इस प्रकार करने से भी कितने ही लड़के मर जाते हैं, और तुम्हारे घर में भी मर जाते हैं, और तुम क्या मृत्यु से बच सकोगे ? तब वे कुछ भी नहीं कह सकते और धूर्त जान लेते हैं कि यहाँ हमारी दाल नहीं गलेगी।

# तृतीय समुल्लास

## अध्ययनाध्यापन विधि

सच्चे आभूषण

सन्तानों को उत्तम विद्या, शिक्षा, गुण, कर्म और स्वभावरूप-आभूषणों का धारण कराना, माता, पिता, आचार्य और सम्बन्धियों का मुख्य कर्त्तव्य है। सोना, चांदी, माणिक, मोती, मूंग आदि रत्नों से युक्त

आभूषणों के धारण कराने से मनुष्य का आत्मा सुभूषित कभी नहीं हो सकता। क्योंकि आभूषणों के धारण करने से देहाभिमान और विषयासक्ति होती है, तथा उससे चोर आदि के भय की तथा मृत्यु की सम्भावना है। संसार में देखने में आता है कि आभूषणों के योग से बालकादिकों की मृत्यु दुष्टों के हाथों होती रहती है।

गुरुकुल शिक्षा

पुत्र और पुत्रियाँ जब आठ वर्ष की हों तभी लड़कों को लड़कों की और लड़कियों को लड़कियों की पाठशाला में माता पिता भेज देवें। जो अध्यापक,—पुरुष वा स्त्री—दुष्टाचारी हों उनसे शिक्षा न दिलावें। किन्तु जो पूर्ण विद्यायुक्त और धार्मिक हों वे ही पढ़ाने और शिक्षा देने के योग्य हैं। माता पिता अपने लड़कों और कन्याओं को आचार्यकुल अर्थात् अपनी २ पाठशाला में भेज दें। विद्या पढ़ने का स्थान एकान्त देश में होना चाहिए। लड़कों तथा लड़कियों की पाठशालाएँ दो कोस एक दूसरे से दूर होनी चाहिएँ। अध्यापक, भृत्य तथा अनुचर कन्याओं की पाठशाला में सब स्त्रियाँ और पुरुषों की पाठशाला में सब पुरुष रहें। पाठशालाओं से एक योजन अर्थात् ४ कोस दूर ग्राम वा नगर रहें। सब को तुल्य वस्त्र, खान-पान और आसन दिए जाँय। चाहे वह राजकुमार वा राजकुमारी हो चाहे दरिद्र की सन्तान हो। सबको तपस्वी होना चाहिये। जब भ्रमण करने को जावें तब उनके साथ अध्यापक रहें जिससे किसी प्रकार की कुचेष्टा न कर सकें और न आलस प्रमाद करें। जब तक गुरुकुल में रहें तब तक ब्रह्मचारी माता पिता के समान अध्यापकों को समझें और अध्यापक अपनी सन्तानों के समान शिष्यों को समझें। राजनियम और जाति नियम होने चाहिये कि ५वें वा ८वें वर्ष से आगे कोई भी माँ बाप अपने लड़कों और

लड़कियों को घर में न रख पाठशाला में अवश्य भेज देवें, जो न भेजे वह दण्डनीय हो।

शिक्षा सब को बाधित रूप से प्राप्त करनी चाहिये

राजा—क्षत्रिय, वैश्य और उत्तम शूद्र जनों को भी विद्या का अभ्यास अवश्य कराए। क्योंकि ब्राह्मण ही केवल विद्याभ्यास करें और क्षत्रियादि न करें तो विद्या, धर्म, राज्य और धनादि की वृद्धि कभी नहीं हो सकती। ब्राह्मण आजीविका में क्षत्रिय आदि के आधीन हैं और क्षत्रियादि के आज्ञा दाता भी हैं। यदि ब्राह्मण ही पढ़ें अन्य नहीं तो उनके यथावत् परीक्षक और दण्ड-दाता कौन होंगें। इस प्रकार ब्राह्मण आदि सब वर्ण पाखण्ड ही में फंस जायँगे। और जब क्षत्रिय आदि विद्वान् होते हैं तब ब्राह्मण भी अधिक विद्याभ्यास करते और धर्मपथ में चलते हैं और उन क्षत्रिय आदि विद्वानों के सामने पाखण्ड तथा झूठा व्यवहार भी नहीं कर सकते। और जो क्षत्रिय आदि अविद्वान् होते हैं तो वे जैसा अपने मन में आता है वैसा ही करते कराते हैं। इसलिये ब्राह्मण भी अपना कल्याण चाहें तो क्षत्रिय आदि को वेदादि सत्यशास्त्र का अभ्यास अधिक प्रयत्न से करावें। क्योंकि क्षत्रिय आदि ही विद्या धर्म, राज्य और लक्ष्मी की वृद्धि करने हारे हैं। वे कभी भिक्षावृत्ति नहीं करते, इस लिये वे विद्याव्यवहार में पक्षपाती भी नहीं हो सकते। और जब सब वर्णों में विद्या तथा सुशिक्षा होती है तब कोई भी पाखण्डरूप अधर्म युक्त मिथ्या व्यवहार को नहीं चला सकता। इस से सिद्ध हुआ कि क्षत्रियादि को नियम में चलाने वाले ब्राह्मण और संन्यासी, तथा ब्राह्मण और संन्यासी को सुनियम में चलाने वाले क्षत्रियादि होते हैं। इसलिये सब वर्णों के स्त्री-पुरुषों में विद्या और धर्म का प्रचार अवश्य होना चाहिये। राजा को योग्य है कि वह सब कन्याओं और लड़कों को

ब्रह्मचर्य में रखकर उन्हें विद्वान् कराए। जो कोई इस आज्ञा को न माने तो उस के माता-पिता को दण्ड दे। अर्थात् राजा की आज्ञा से आठ वर्ष के पश्चात् लड़का वा लड़की किसी के घर में न ठहरने पावे; किन्तु आचार्य कुल में वे रहें। तथा जब तक समावर्तन का समय न आवे तब तक उनका विवाह न होने पावे ऐसा प्रबन्ध राजा करे।

सब स्त्री और पुरुष अर्थात् मनुष्यमात्र को पढ़ने का अधिकार है। सब मनुष्यों को वेदादि शास्त्र के पढ़ने-सुनने के अधिकार का प्रमाण यजुर्वेद के २६वें अध्याय का दूसरा मन्त्र है। जो कि निम्नलिखित है:—

क्या स्त्री और शूद्र भी वेद पढ़ें?

**यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च, स्वाय चारणाय च ॥**

इस मन्त्र में परमेश्वर कहता है कि जैसे मैं सब मनुष्यों के लिये इस कल्याणमयी अर्थात् संसार और मुक्ति का सुख देनेहारी ऋग्वेदादि चारों वेदों की वाणी का उपदेश करता हूँ, वैसे तुम भी किया करो। मैंने ब्राह्मण, क्षत्रिय (ब्रह्मराजन्याभ्याम्) वैश्य (अर्याय), शूद्र (शूद्राय) और भृत्य वा स्त्री आदि (स्वाय) और अतिशूद्र आदि (अरणाय) के लिये भी वेदों का प्रकाश किया है। इससे प्रतीत होता है कि परमात्मा की दृष्टि में मनुष्यमात्र को वेद पढ़ने का अधिकार है। क्या परमेश्वर स्त्री और शूद्र का भला नहीं करना चाहता?, क्या ईश्वर पक्षपाती है कि वेदों के पढ़ने-सुनने का स्त्री और शूद्र के लिये निषेध और शेषों के लिये विधि करे? जैसे परमात्मा ने पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य और अन्नादि पदार्थ सबके लिये बनाए हैं वैसे ही वेद भी सब के लिये प्रकाशित किये हैं। और जहाँ कहीं निषेध किया है उसका यह

अभिप्राय है कि जिसको पढ़ने पढ़ाने से कुछ भी न आवे वह निर्बुद्धि और मूर्ख होने से शूद्र कहाता है, उसका पढ़ना-पढ़ाना व्यर्थ है। स्त्रियों के पढ़ने के सम्बन्ध में देखो वेद में कन्याओं के पढ़ने का प्रमाण है। यथा:—

**ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। थर्व ११।३।१८॥**

अर्थात् जैसे लड़के ब्रह्मचर्य सेवन से पूर्णविद्या और सुशिक्षा को प्राप्त होकर युवति, विदुषी, अपने अनुकूल, प्रिय और सदृश स्त्रियों के साथ विवाह करते हैं वैसे कुमारियां भी ब्रह्मचर्य सेवन से वेदादि शास्त्रों को पढ़कर, पूर्णविद्या और उत्तमशिक्षा को प्राप्त और युवती होकर, पूर्ण युवावस्था में अपने सदृश, प्रिय, विद्वान्, पूर्ण युवावस्थायुक्त पुरुष को प्राप्त हों।

इसलिये स्त्रियों को भी ब्रह्मचर्य और विद्या का ग्रहण अवश्य करना चाहिये।

तथा देखो श्रौत सूत्र में लिखा है कि:—

**इमं मन्त्रं पत्नी पठेत्॥**

अर्थात् स्त्री यज्ञ में इस मन्त्र को पढ़े। यदि स्त्री वेदादि शास्त्रों को न पढ़ी हो तो यज्ञ में स्वरसहित मन्त्रों का उच्चारण और संस्कृत सम्भाषण कैसे कर सकेगी। भारतवर्ष की स्त्रियों में भूषण-रूप गार्गी आदि वेदादि शास्त्रों को पढ़कर पूर्ण विदुषी हुई थीं—यह शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट लिखा है। देखो आर्यावर्त के राज-पुरुषों की स्त्रियाँ धनुर्वेद अर्थात् युद्धविद्या भी अच्छे प्रकार जानती थीं। क्योंकि जो न जानती होतीं तो कैकेयी आदि दशरथ आदि के साथ युद्ध में क्योंकर जा सकतीं, और युद्ध कर सकतीं?

ब्राह्मण-स्त्री और क्षत्रिय-स्त्री को सब विद्या, वैश्य-स्त्री को व्यवहार-विद्या और शूद्रा को पाकादि सेवा की विद्या अवश्य पढ़नी

चाहिये। स्त्रियों को भी व्याकरण, धर्म, वैद्यक, गणित और शिल्प-विद्या तो अवश्य ही सीखनी चाहिये।

**पढ़ने-पढ़ाने में विघ्न**

कुसंग अर्थात् दुष्ट विषयी जनों का संग, दुष्ट-व्यसन जैसे मद आदि सेवन, बाल्यावस्था में विवाह अर्थात् २५वें वर्ष से पूर्व पुरुष और १६वें वर्ष से पूर्व स्त्री का विवाह हो जाना, ब्रह्मचर्य का न होना, अतिभोजन, अतिजागरण, पढ़ने-पढ़ाने व परीक्षा लेने-देने में आलस्य वा कपट करना, विद्या का लाभ न समझना आदि विघ्न पढ़ने-पढ़ाने में है। अतः राजा और प्रजा इन विघ्नों को दूर करके अपने लड़कों और लड़कियों को विद्वान् करने के लिये तन, मन, धन से प्रयत्न किया करें।

**ब्रह्मचर्य के तीन प्रकार**

ब्रह्मचर्य तीन प्रकार का होता है। कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम। इनमें से कनिष्ठ ब्रह्मचर्य यह है कि पुरुष अर्थात् देह और देह में शयन करने वाला जीवात्मा शुभगुणों से संगत रहे। उसे आवश्यक है कि २४ वर्ष पर्यन्त जितेन्द्रिय अर्थात् ब्रह्मचारी रहकर वेदादि विद्या और सुशिक्षा को ग्रहण करे। और विवाह करके भी लम्पटता न करे तो उसके शरीर में प्राण बलवान् होकर सब शुभ-गुणों के वास कराने वाले होते हैं। इसे वसु ब्रह्मचर्य्य कहते हैं। इसकी आयु भी ७० वा ८० वर्ष तक रहेगी।

मध्यम ब्रह्मचर्य्य यह है कि—मनुष्य ४४ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचारी रह कर वेदाभ्यास करे। उसके प्राण, इन्द्रियां, अन्तःकरण और आत्मा बलयुक्त होकर सब दुष्टों को रुलाने वाले और श्रेष्ठों का पालन करने वाले होते हैं इसे रुद्र ब्रह्मचारी कहते हैं।

उत्तम ब्रह्मचर्य्य ४८ वर्ष पर्यन्त होता है। ४८ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य्य करने वाले के प्राण उसके अनुकूल होकर सकल विद्याओं

का ग्रहण करते हैं। इसकी आयु ४०० वर्ष पर्यन्त बढ़ सकती है। इसे आदित्य ब्रह्मचारी कहते हैं। जो मनुष्य इस ब्रह्मचर्य्य को प्राप्त होकर इसका लोप नहीं करते वे सब प्रकार के रोगों से रहित होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

स्त्रियों का ब्रह्मचर्य काल तथा आजीवन ब्रह्मचर्य

२५ वर्ष पर्यन्त पुरुष ब्रह्मचर्य करे तो १६ वर्ष पर्यन्त कन्या, ३० वर्ष पर्यन्त पुरुष ब्रह्मचारी रहे तो १७ वर्ष पर्यन्त स्त्री, ३६ वर्ष पर्यन्त पुरुष ब्रह्मचारी रहे तो १८ वर्ष पर्यन्त स्त्री, ४० वर्ष पर्यन्त पुरुष ब्रह्मचर्य्य करे तो २० वर्ष पर्यन्त स्त्री, ४४ वर्ष पर्यन्त पुरुष ब्रह्मचर्य्य करे तो २२ वर्ष पर्यन्त स्त्री, ४८ वर्ष पर्यन्त पुरुष ब्रह्मचारी रहे तो २४ वर्ष पर्यन्त स्त्री ब्रह्मचर्य्य का सेवन करे। अर्थात् ४८वें वर्ष से आगे पुरुष और २४वर्ष से आगे स्त्री को ब्रह्मचर्य्य न रखना चाहिये। परन्तु यह नियम विवाह करने वाले पुरुषों और स्त्रियों का है। और जो विवाह करना ही न चाहें वे मरण पर्यन्त ब्रह्मचारी रह सकें तो भले ही रहें। परन्तु यह काम पूर्ण विद्या वाले, जितेन्द्रिय और निर्दोष योगी स्त्री और पुरुष का है। यह बड़ा कठिन काम है कि काम के वेग को थामकर इन्द्रियों को अपने वश में रखना।

ब्रह्मचारी के विशेष नियम

ब्रह्मचारी वैरत्याग ( अहिंसा ), सत्य मानना, सत्य बोलना और सत्य ही करना ( सत्य ), मन, वचन, कर्म से चोरी का त्याग ( अस्तेय ), उपस्थेन्द्रिय का संयम ( ब्रह्मचर्य्य ), और अत्यन्त लोलुपता छोड़ स्वत्वाभिमान रहित होना ( अपरिग्रह ), इन पांच यमों का सेवन सदा करे। इसी प्रकार स्नानादि से पवित्रता (शौच), पुरुषार्थ जितना हो सके करना, हानि लाभ में हर्ष व शोक न करना (सन्तोष), कष्टसेवन से भी धर्मयुक्त कर्मों का अनुष्ठान (तप),

पढ़ना, पढ़ाना (स्वाध्याय), तथा ईश्वर की भक्ति-विशेष से आत्मा को अर्पित रखना (ईश्वर प्रणिधान), इन पांच नियमों का भी सेवन ब्रह्मचारी सदा करे।

यमों के विना केवल इन नियमों का सेवन न करे। किन्तु इन दोनों का युगपत् सेवन किया करे।

अत्यन्त कामातुरता तथा बिल्कुल निष्कामता ये दोनों ही श्रेष्ठ नहीं। जैसे सारथि घोड़ों को नियम में रखता है, वैसे मन और आत्मा को खोटे कामों में खींच ले जाने वाली इन्द्रियों के निग्रह में सब प्रकार से प्रयत्न करता रहे। जो अजितेन्द्रिय है उसके वेद, त्याग, यज्ञ, नियम और तप तथा अन्य अच्छे काम कभी सिद्धि को प्राप्त नहीं होते। वेद के पढ़ने-पढ़ाने, सन्ध्योपासन तथा होम मन्त्रों के सम्बन्ध में अनध्याय न करना चाहिये। जैसे झूठ बोलने में सदा पाप और सत्य बोलने में सदा पुण्य होता है वैसे ही बुरे कर्म करने में सदा अनध्याय और अच्छे कर्म करने में सदा स्वाध्याय ही होता है। ब्रह्मचारी को सदा नम्र तथा सुशील होना चाहिये और वृद्धों की सेवा करनी चाहिए। वह वाणी और मन को सदा शुद्ध और सुरक्षित रक्खे। उपरोक्त नियमों में रहकर द्विज अर्थात् ब्रह्मचारी कुमार और ब्रह्मचारिणी कन्या धीरे-धीरे वेदार्थ के ज्ञानरूप उत्तम तप को सदा बढ़ाते चले जावें। ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी मद्य, मांस, गन्ध, माला, खटाई, प्राणियों की हिंसा, उबटना मलना, अंजन लगाना, जूते और छत्र का धारण, काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोक, ईर्ष्या, द्वेष, नाच, गाना और बाजा बजाना, द्यूत, व्यर्थकथा, निन्दा, मिथ्याभाषण आदि कुकर्मों को सदा छोड़ देवें। सर्वत्र एकाकी सोवे। वीर्य स्खलित कभी न करे।

सुश्रुत, सूत्रस्थान, अध्याय २५ में लिखा है कि शरीर की चार

अवस्थाएं हैं। एक "वृद्धि"–जिसमें कि १६वें वर्ष से लेकर २५वें वर्ष पर्यन्त सब धातुओं की बढ़ती होती है। दूसरी "यौवन"—इसका आरम्भ २५वें वर्ष के अन्त में और २६वें वर्ष के आदि में होता है। तीसरी "सम्पूर्णता"—इसमें २५वें वर्ष से लेकर ४०वें वर्ष पर्यन्त सब धातुओं की पुष्टि होती है। चौथी अवस्था है "किञ्चित्परिहाणि" अर्थात् कुछ २ नुकसान की। अर्थात् जब साङ्गोपाङ्ग शरीरस्थ सकल धातु पुष्ट होकर पूर्णता को प्राप्त होते हैं, तदन्तर जो धातु बढ़ता है वह शरीर में नहीं रहता, किन्तु स्वप्न, प्रस्वेद आदि द्वारा बाहर निकल जाता है। वही ४० वां वर्ष विवाह का उत्तम समय है, और सर्वोत्तम तो ४८वें वर्ष में विवाह करना है।

विवाह काल

माता, पिता वा अध्यापक अपने लड़के लड़कियों को अर्थ सहित गायत्री मन्त्र का उपदेश करके सन्ध्योपासन की जो स्नान, आचमन, प्राणायाम आदि क्रियाएं हैं, सिखलावें। स्नान इसलिये है कि इससे शरीर के बाह्य अवयवों की शुद्धि और आरोग्य आदि होते हैं।

सन्ध्योपासन वा ब्रह्मयज्ञ

आचमन के लिये उतने जल को हथेली में लें कि वह जल कण्ठ के नीचे हृदय तक ही पहुँचे, न उससे अधिक और न न्यून। हथेली के मूल और मध्य देश में ओष्ठ लगाकर आचमन करे। आचमन से कण्ठस्थ कफ और पित्त की निवृत्ति थोड़ी-सी होती है।

इसी प्रकार मार्जन, समन्त्रक प्राणायाम, मनसापरिक्रमण, उपस्थान, परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना की रीति भी सिखलावें। सन्ध्योपासन एकान्त देश में एकाग्र चित्त से करे।

सन्ध्या, सायं प्रातः, दो ही कालों में करे। रात दिन की दो ही संध्या बेलाएं हैं, अन्य नहीं। न्यून से न्यून एक घण्टा ध्यान

अवश्य करे। जैसे समाधिस्थ होकर योगी लोग परमात्मा का ध्यान करते हैं वैसे ही सन्ध्योपासन भी किया करे। सन्ध्योपासन को ब्रह्मयज्ञ भी कहते हैं।

जैसे अत्यन्त वेग से वमन होकर खाया-पिया अन्न और जल बाहर निकल जाता है वैसे ही प्राण को बल से फैंके और उसे बाहर ही यथाशक्ति रोक देवे।

सन्ध्योपासन प्राणायाम की विधि

प्राण को जब बाहर निकालना चाहे तब मूलेन्द्रिय को ऊपर खींच रखे, तब तक प्राण बाहर रहता है। इस प्रकार प्राण बाहर अधिक ठहर सकता है।

जब घबराहट हो तब धीरे २ वायु को भीतर लेकर फिर भी वैसे ही करता जाय, जितना कि सामर्थ्य और इच्छा हो। और मन में "ओ३म्" का जप करता जाय। इस प्रकार करने से आत्मा और मन की पवित्रता तथा स्थिरता होती है।

प्राणायाम ४ प्रकार का होता है—बाह्यविषय, आभ्यन्तर, स्तम्भवृत्ति तथा बाह्याभ्यन्तराक्षेपी।

१. "बाह्यविषय"—अर्थात् प्राण को बाहर ही अधिक रोकना।

२. "आभ्यन्तर"—अर्थात् भीतर जितना प्राण रोका जा सके उतना रोकना।

३. "स्तम्भवृत्ति"—अर्थात् एक ही बार, जहाँ का तहाँ, प्राण को यथाशक्ति रोक देना।

४. "बाह्याभ्यन्तराक्षेपी"—अर्थात् प्राण जब भीतर से बाहर निकलने लगे तब उसके विरुद्ध, न निकलने देने के लिए, बाहर से भीतर को प्राण ले, और प्राण जब बाहर से भीतर आने लगे तब भीतर से बाहर की ओर प्राण को धक्का देकर रोकता जाय। इस प्रकार एक दूसरे के विरुद्ध क्रिया करने से दोनों की गति रुक कर प्राण अपने वश में हो जाता है। और अन्त में मन और

इन्द्रियाँ भी वश में आ जाती हैं।

प्राणायाम के लाभ

जब मनुष्य प्राणायाम करता है तब प्रतिक्षण उत्तरोत्तर काल में अशुद्धि का नाश और ज्ञान का प्रकाश होता जाता है। जब तक कि मुक्ति न हो तब तक उसके आत्मा का ज्ञान बराबर बढ़ता जाता है।

जैसे अग्नि में तपाने से सुवर्ण आदि धातुओं का मल नष्ट होता है और वे धातु शुद्ध हो जाते हैं, वैसे प्राणायाम द्वारा मन आदि इन्द्रियों के दोष क्षीण हो जाते हैं और मन तथा इन्द्रियाँ निर्मल हो जाती हैं। बल और पुरुषार्थ बढ़ जाता है। बुद्धि तीव्र और सूक्ष्म-रूप हो जाती है जिससे कि वह बहुत कठिन और सूक्ष्म विषय को भी शीघ्र ग्रहण कर लेती है। प्राणायाम का करने वाला सब शास्त्रों को थोड़े ही काल में समझकर उपस्थित कर लेता है। प्राणायाम से मनुष्य शरीर में वीर्य वृद्धि को प्राप्त होकर स्थिर बल, पराक्रम तथा जितेन्द्रियता को उत्पन्न करता है। अतः पुरुष को प्राणायाम अवश्य करना चाहिये। स्त्री को भी चाहिये कि वह भी इसी प्रकार प्राणायाम किया करे।

अग्निहोत्र या देवयज्ञ

ब्रह्मचारी देवयज्ञ भी किया करे। देवयज्ञ का दूसरा नाम अग्निहोत्र है। अग्निहोत्र सायं प्रातः दो ही काल में करे। सूर्योदय के पश्चात् और सूर्यास्त के पूर्व अग्निहोत्र करने का समय है। प्रत्येक मनुष्य को सोलह २ आहुतियां देनी चाहियें। और घृत आदि की प्रत्येक आहुति का परिमाण छः २ माशे न्यून से न्यून होना चाहिये। और जो इससे अधिक करे तो बहुत अच्छा है। ब्रह्मचर्य में केवल ब्रह्मयज्ञ और अग्निहोत्र ही करना होता है, शेष तीन महायज्ञों का विधान ब्रह्मचारी के लिए नहीं है।

पं० विश्वनाथ स्मृति संग्रह

पुस्तकालय

अग्निहोत्र के लाभ

सब लोग जानते हैं कि दुर्गन्धयुक्त वायु और जल से रोग होते और रोग से प्राणियों को दुःख होता है, तथा सुगन्धित वायु और जल से आरोग्य होता और आरोग्य होने से सुख प्राप्त होता है। अग्नि में डाला हुआ पदार्थ सूक्ष्म होकर, फैलकर वायु के साथ दूर २ देश में जाकर दुर्गन्ध की निवृत्ति करता है। घर में रखी कस्तूरी आदि के सुगन्ध का यह सामर्थ्य नहीं और न यह घर की वायु को ही बाहर निकाल कर शुद्ध वायु का प्रवेश घर में करा सकती है क्योंकि कस्तूरी में भेदक शक्ति नहीं है। अग्नि ही का यह सामर्थ्य है कि वह घर की वायु और दुर्गन्धयुक्त पदार्थों को छिन्न-भिन्न और हलका कर घर से उन्हें बाहर निकाल पवित्र वायु का प्रवेश घर में करा सके।

8249

जिस मनुष्य के शरीर से जितना दुर्गन्ध उत्पन्न होकर वायु और जल को बिगाड़ कर रोगोत्पत्ति का निमित्त होकर प्राणियों को दुःख प्राप्त कराता है, उतना ही पाप उस मनुष्य को होता है। इसलिये उस पाप के निवारणार्थ उतना सुगंध, वा उससे अधिक, वायु और जल में फैलाना चाहिये। जितना घृत और सुगन्धादि पदार्थ एक मनुष्य खाता है उतने द्रव्य के होम से लाखों मनुष्यों का उपकार होता है। इसलिये आर्यवर शिरोमणि महाशय ऋषि, महर्षि, राजा, महाराजा लोग बहुत सा होम किया करते और कराया करते थे। जब तक इस होम का प्रचार रहा तब तक आर्यावर्त देश रोगों से रहित और सुखों से पूरित था। अब भी यदि प्रचार हो, तो देश वैसा ही सुखसम्पन्न हो जाए।

धर्माधर्म का लक्षण

(१) वेद, (२) स्मृति अर्थात् वेदानुकूल आप्तोक्त मनुस्मृत्यादि शास्त्र, (३) सत्पुरुषों का आचार अर्थात् वेद द्वारा परमेश्वर-प्रतिपादित कर्म, (४) और अपने आत्मा को प्रिय अर्थात् जिसको आत्मा

चाहता है, जैसे कि सत्य-भाषण। ये चार धर्म के लक्षण हैं। अर्थात् इन्हीं से धर्माधर्म का निश्चय होता है। जो पक्षपात रहित, न्याय, सत्य का ग्रहण, तथा असत्य का सर्वथा परित्यागरूप आचार है उसी का नाम धर्म, और जो असत्य का ग्रहणरूप कर्म है उसी को अधर्म कहते हैं। इस सम्बन्ध में मनु का निम्नलिखित श्लोक स्मरण रखना चाहिये। यथा:—

**वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।**
**एतच्चतुर्विधं प्राहुःसाक्षाद धर्मस्य लक्षणम् ॥२।१२॥**

धर्म के अधिकारी और धर्म का अभ्रान्त लक्षण

जो पुरुष सुवर्णादि रत्न (अर्थ), और स्त्री सेवन (काम) आदि में नहीं फंसते उन्हीं को धर्म का ज्ञान प्राप्त होता है। वे यदि धर्म के ज्ञान की इच्छा करें तो वेद द्वारा धर्म का निश्चय करें क्योंकि धर्माधर्म का निश्चय विना वेद के ठीक २ नहीं होता। यथा मनु:—

**अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।**
**धर्म जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥२।१३॥**

परीक्षा के ५ प्रकार

जो २ पढ़ना-पढ़ाना हो वह २ अच्छे प्रकार परीक्षा करके होना चाहिये। परीक्षा पांच प्रकार से होती है:—१—जो जो ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव और वेदों के अनुकूल हो वह २ सत्य और उससे विरुद्ध असत्य है।

२—जो जो सृष्टिक्रम के अनुकूल वह वह सत्य और जो सृष्टिक्रम के विरुद्ध है वह सब असत्य है। जैसे कोई कहे कि "बिना माता-पिता के योग के लड़का उत्पन्न हुआ"—ऐसा कथन सृष्टिक्रम के विरुद्ध होने से असत्य है।

३—आप्त अर्थात् जो धार्मिक, विद्वान्, सत्यवादी और निष्कपटी लोग हैं उनके आचार और उपदेश के अनुकूल जो है वह ग्राह्य और जो विरुद्ध है वह अग्राह्य है।

४—जो अपने आत्मा की पवित्रता और विद्या के अनुकूल है वह ग्राह्य और जो प्रतिकूल है वह अग्राह्य है। अर्थात् जैसे अपने को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय लगता है वैसे ही सर्वत्र समझ लेना कि मैं भी किसी को दुःख या सुख दूंगा तो वह भी अप्रसन्न और प्रसन्न होगा।

५—आठों प्रमाणों अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव के जो अनुकूल है वह २ ग्राह्य और जो प्रतिकूल है वह २ अग्राह्य है।

इस प्रकार प्रमाणादि द्वारा परीक्षा कर के पढ़ें और पढ़ावें; अन्यथा विद्यार्थियों को सत्य-बोध कभी नहीं हो सकता। जिस २ ग्रन्थ को गुरु लोग पढ़ावें प्रथम उस २ ग्रन्थ की पूर्वोक्त प्रकार से वे परीक्षा कर लिया करें। जो सत्य ठहरे उस २ ग्रन्थ को पढ़ावें, जो इन परीक्षाओं के विरुद्ध हों उन ग्रन्थों को न पढ़ें, न पढ़ावें।

ऋषिकृत ग्रन्थों की विशेषता

महर्षि लोगों ने सहजता से जो महान् विषय अपने ग्रन्थों में प्रकाशित किया है वैसा क्षुद्राशय मनुष्यों के कल्पित ग्रन्थों में क्योंकर हो सकता है? महर्षि लोगों का आशय जहां तक हो सके वहां तक सुगम और जिसके ग्रहण में समय थोड़ा लगे इस प्रकार का होता है। और क्षुद्राशय लोगों की इच्छा ऐसे होती है कि जहां तक बने वहां तक कठिन रचना करना जिस को बड़े परिश्रम से पढ़कर अन्य लाभ उठा सकें—जैसे पहाड़ का खोदना, कौड़ी का लाभ होना। और आर्षग्रन्थों का पढ़ना

ऐसा है कि जैसा एक गोता लगाना बहुमूल्य मोतियों का पाना। ऋषि प्रणीत ग्रन्थों को इसलिये भी पढ़ना चाहिये कि ऋषि बड़े विद्वान्, सर्वशास्त्रवित् और धर्मात्मा थे। और अनृषि अर्थात् जो अल्प शास्त्र पढ़े हैं और जिनका आत्मा पक्षपात सहित है, उनके बनाए हुए ग्रन्थ भी वैसे ही हैं।

छः दर्शनों में परस्पर विरोध नहीं। एक विषय में अनेकों का परस्पर विरुद्ध कथन हो तो उसको विरोध

क्या छः दर्शनों में परस्पर विरोध नहीं है?

कहते हैं। दर्शनों में "सृष्टि का प्रतिपादन" एक ही विषय है। सृष्टि विद्या के भिन्न २ छः अवयवों का छः शास्त्रों में प्रतिपादन करने से इनमें कुछ भी विरोध नहीं। सृष्टि का जो कर्म कारण है उसकी व्याख्या मीमांसा में, समय की व्याख्या वैशेषिक में, उपादानकारण की व्याख्या न्याय में, पुरुषार्थ की व्याख्या योग में, तत्त्वों के अनुक्रम से परिगणन की व्याख्या सांख्य में और निमित्तकारण जो परमेश्वर है उसकी व्याख्या वेदान्त शास्त्र में है। इससे कुछ भी विरोध नहीं। जैसे वैद्यकशास्त्र में निदान, चिकित्सा, औषधिदान और पथ्य के प्रकरण भिन्न २ कथित हैं, परन्तु सब का सिद्धान्त "रोग निवृत्ति" है, वैसे ही सृष्टि के छः कारण हैं, इनमें से एक २ कारण की व्याख्या एक २ शास्त्रकार ने की है। इसलिए इनमें कुछ भी विरोध नहीं।

# चतुर्थ समुल्लास

## समावर्त्तन, विवाह और गृहाश्रम विधि

समावर्तन

यथावत्, ब्रह्मचर्य में, आचार्यानुकूल रहकर धर्मपूर्वक चारों, तीन, वा दो, अथवा एक वेद को सांगोपांग पढ़कर, जिसका ब्रह्मचर्य खण्डित न हुआ हो वह

पुरुष वा स्त्री गृहाश्रम में प्रवेश करे। इस प्रकार के प्रवेश को समावर्तन कहते हैं।

**विवाह में गुरु की आज्ञा**

गुरु की आज्ञा लेकर, स्नान कर, गुरुकुल से विधिपूर्वक आकर, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अपने वर्णानुकूल, सुन्दर और लक्षणयुक्त कन्या से विवाह करें।

**निकट और दूर विवाह करने के गुण-दोष**

निकट और दूर विवाह करने के गुण-दोष निम्नलिखित हैं। यथा १—जो बालक बाल्यावस्था से निकट रहते, परस्पर क्रीड़ा, लड़ाई और प्रेम करते, एक दूसरे के गुण-दोष-स्वभाव या बाल्यावस्था के विपरीत आचरण जानते, और जो नङ्गे भी एक दूसरे को देखते हैं, उनका परस्पर विवाह होने से प्रेम कभी नहीं हो सकता।

२—जैसे पानी में पानी के मिलने से विलक्षण गुण नहीं होता वैसे एक गोत्र, पितृकुल वा मातृकुल में, विवाह होने से धातुओं के अदल-बदल न होने से उन्नति नहीं होती।

३—जैसे दूध में मिश्री वा शुंठ्यादि ओषधियों के योग से उत्तमता उत्पन्न होती है, वैसे ही भिन्न गोत्र अर्थात् मातृपितृकुल से पृथक् स्त्री-पुरुष का विवाह होना उत्तम है।

४—जैसे यदि कोई एक देश में रोगी रहता हो वह दूसरे देश में चला जाय तो वायु और खान-पान के बदलने से रोग रहित होता है, वैसे ही दूर देश स्थानों के विवाह होने में उत्तमता है।

५—निकट सम्बन्ध करने में एक दूसरे के निकट होने से सुख-दुःख का भान और विरोध होना भी सम्भव है, दूरस्थ देशों में नहीं। और दूरस्थों के विवाह में दूर २ प्रेम की डोरी

लम्बी बढ़ जाती है, निकटस्थ विवाहों में नहीं।

६—कन्या के पितृकुल में दारिद्र्य होना भी सम्भव है, क्योंकि जब २ कन्या पितृकुल आवेगी तब २ इसे कुछ न कुछ देना ही होगा।

७—निकट होने से एक दूसरे को अपने २ पितृकुल के सहाय का घमण्ड रहेगा, और जब २ कुछ भी दोनों में वैमनस्य होगा, तब २ स्त्री झट ही पिता के कुल में चली जायगी, एक दूसरे की निन्दा अधिक होगी और विरोध भी। इत्यादि कारणों से पिता के एक गोत्र, माता की छः पीढ़ी, और समीप देश में विवाह करना अच्छा नहीं।

विवाह का समय

१६वें वर्ष से लेकर २४वें वर्ष तक कन्या और २४वें वर्ष से लेकर ४८वें वर्ष तक पुरुष का विवाह समय उत्तम है। स्त्री और पुरुष यदि क्रम से १६ और २५ वर्ष में विवाह करें तो निकृष्ट, १८ वा २० वर्ष की स्त्री और ३०, ३५ वा ४० वर्ष के पुरुष का विवाह मध्यम, तथा २४ वर्ष की स्त्री और ४८ वर्ष के पुरुष का विवाह उत्तम है। जिस देश में इसी प्रकार विवाह की विधि श्रेष्ठ है और ब्रह्मचर्य तथा विद्याभ्यास अधिक होता है, वह देश सुखी है, और जिस देश में ब्रह्मचर्य तथा विद्याग्रहण में अरुचि और बाल्यावस्था में तथा अयोग्यों का विवाह होता है वह देश दुःख में डूब जाता है।

सदृश पति की खोज

कन्या पति की खोज कर अपने तुल्य पति को प्राप्त हो। चाहे लड़का और लड़की मरण-पर्यन्त कुमार रहें परन्तु असदृश अर्थात् परस्पर विरुद्ध गुण-कर्म-स्वभाव वालों का विवाह

कभी न होना चाहिए। अर्थात् असदृशों का विवाह होना योग्य नहीं है।

विवाह लड़के और लड़की के अधीन होना उत्तम है। माता-पिता यदि सन्तानों का विवाह कभी विचारें भी, तो भी लड़के और लड़की की प्रसन्नता के बिना न होना चाहिए। क्योंकि एक दूसरे की प्रसन्नता से विवाह होने से विरोध बहुत कम होता और सन्तान उत्तम होती है। अप्रसन्नता के विवाह में नित्य क्लेश ही रहता है। विवाह में मुख्य प्रयोजन वर और कन्या का है, माता-पिता का नहीं। क्योंकि यदि उनमें परस्पर प्रसन्नता रहे तो उन्हीं को सुख और यदि विरोध रहे तो उन्हीं को दुःख होगा। इसलिये जैसी स्वयंवर की रीति आर्यावर्त में परम्परा से चली आती है, उसी प्रकार विवाह करना उत्तम है। जब स्त्री-पुरुष विवाह करना चाहें तब उनकी विद्या, विनय शील, रूप, आयु, बल, कुल, शरीर का परिमाण यथायोग्य होना चाहिये। जब तक इनका मेल नहीं होता तब तक विवाह में कुछ भी सुख नहीं होता।

विवाह माता और पिता के अधीन न होना चाहिये

कन्या और वर का विवाह से पूर्व एकान्त में मेल न होना चाहिए। क्योंकि युवावस्था में स्त्री-पुरुष का एकान्तवास दूषणकारक है। परन्तु जब कन्या वा वर के विवाह का समय हो, अर्थात् जब एक वर्ष वा छः महीने, ब्रह्मचर्याश्रम और विद्या पूरी होने में शेष रहें तब उन कुमारों और कन्याओं के प्रतिबिम्ब, जिस को "फोटोग्राफ़" कहते हैं अथवा प्रतिकृति उतार कर कन्याओं की अध्यापिकाओं के पास कुमारों की और कुमारों के अध्यापकों के पास कन्याओं की भेज देवें। जिस २ का रूप मिल जाय उस २ का इतिहास, अर्थात् जन्म से लेकर उस दिन पर्यन्त जन्म चरित्र

का पुस्तक, अध्यापक लोग मंगवा कर देखें। जब दोनों के गुण-कर्म स्वभाव सदृश हों तब जिस २ के साथ जिस २ का विवाह होना योग्य समझें उस २ पुरुष और कन्या का प्रतिबिम्ब और इतिहास, कन्या और वर के हाथ में देवें और कहें कि इसमें जो तुम्हारा अभिप्राय हो उसे हमें विदित कर देना। तब उन दोनों का समावर्तन एक ही समय में करें। यदि वे दोनों अध्यापकों के सामने विवाह करना चाहें तो वहां, नहीं तो कन्या के माता-पिता के घर में विवाह होना योग्य है। जब वे समक्ष हों तब उन अध्यापकों वा कन्या के माता-पिता आदि भद्र पुरुषों के सामने उन दोनों की आपस में बातचीत करा देनी चाहिये। यदि वे कुछ गुप्त व्यवहार भी एक दूसरे से पूछना चाहें तो इस सभा में लेख द्वारा एक दूसरे से पूछ सकते हैं। जब दोनों का दृढ़ प्रेम विवाह करने में हो जाय तब यथा समय सबके सामने पाणिग्रहणपूर्वक विवाह की विधि करावें।

जब तक इसी प्रकार सब ऋषि, मुनि, राजा, महाराजा तथा आर्यलोग ब्रह्मचर्य्यपूर्वक विद्या पढ़ कर स्वयंवर-विवाह करते रहे तब तक इस देश की सदा उन्नति रही। परन्तु जब से ब्रह्मचर्य-पूर्वक विद्या का पढ़ना बन्द हो गया और माता-पिता के आधीन विवाह होने लगा तब से क्रमशः आर्यावर्त देश की हानि होती चली आई है। इससे इस दुष्ट काम को छोड़ कर सज्जन लोग पूर्वोक्त प्रकार से स्वयंवर विवाह किया करें। विवाह वर्णानुक्रम से करें और वर्णव्यवस्था भी गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार होनी चाहिये।

जिसके माता-पिता अन्य वर्णस्थ हों क्या उनकी सन्तान भी

ब्राह्मण हो सकती है ? हाँ, बहुत से अन्य वर्णस्थ माता पिता होगये, होते हैं और होंगे भी। जैसे छान्दोग्य उपनिषद् में जाबालऋषि अज्ञात कुल के थे परन्तु ब्राह्मण होगये तथा महाभारत में विश्वामित्र क्षत्रिय वर्ण से और मातंगऋषि चाण्डाल कुल से ब्राह्मण हो गये थे। अब भी जो उत्तम विद्या और स्वभाव वाला है वही ब्राह्मण कहाने के योग्य होता है और मूर्ख शूद्र के योग्य होता है, और वैसा ही आगे भी होगा। रज-वीर्य के योग से ब्राह्मण शरीर नहीं होता। किन्तु पढ़ने-पढ़ाने, विचार करने-कराने नानाविध होम के अनुष्ठान, सम्पूर्ण वेदों को शब्द-अर्थ संबन्ध-पूर्वक तथा स्वरोच्चारण के साथ पढ़ने-पढ़ाने, पौर्णमास इष्टि आदि के करने, धर्म से सन्तानोत्पत्ति तथा पंचमहायज्ञों के करने और अग्निष्टोमादि यज्ञ, विद्वानों का संग, सत्कार, सत्यभाषण, परोपकारादि सत्कर्म, तथा सम्पूर्ण शिल्पविद्यादि पढ़कर दुष्टाचार छोड़ श्रेष्ठाचार में वर्तने से यह शरीर ब्राह्मण का किया जाता है। यथा मनुः—

अन्य वर्णस्थ माता पिता से क्या ब्राह्मण हो सकता है ?

**स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।**
**महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥२।२८॥**

वर्ण-परिवर्त्तन के सम्बन्ध में मनु का निम्नलिखित श्लोक स्मरणीय है। यथाः—

वर्ण-परिवर्तन में प्रधानतया युक्ति

**शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।**
**क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥१०।६५॥**

अर्थात् शूद्रकुल में उत्पन्न होकर—ब्राह्मण क्षत्रिय या वैश्य के समान गुण-कर्म-स्वभाव वाला हो तो वह शूद्र भी ब्राह्मण, क्षत्रिय

या वैश्य हो जाय। वैसे ही जो ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य कुल में उत्पन्न हुआ हो और उसके गुण-कर्म-स्वभाव शूद्र के सदृश हों तो वह ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य भी शूद्र हो जाय। वैसे क्षत्रिय वा वैश्य के कुल में उत्पन्न होकर ब्राह्मण वा शूद्र के समान होने से ब्राह्मण वा शूद्र भी हो जाता है। अर्थात् चारों वर्णों में गुण-कर्म दृष्टि से जिस-जिस वर्ण के सदृश जो २ पुरुष वा स्त्री हो वह २ उसी वर्ण में गिना या गिनी जावे।

इस सम्बन्ध में आपस्तम्ब के भी निम्नलिखित दो सूत्र हैं। यथा :—

**धर्मचर्य्यया जघन्यो वर्णः पूर्वंपूर्वं वर्णमापद्यते जाति-परिवृत्तौ। अधर्मचर्यया पूर्वोवर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमाप-द्यते जातिपरिवृत्तौ॥**

अर्थात् धर्माचरण से निकृष्ट वर्ण अपने से उत्तम २ वर्ण को प्राप्त होता है और वह उसी वर्ण में गिना जाता है जिस-जिस के कि वह योग्य होता है। वैसे अधर्माचरण से पूर्व अर्थात् उत्तम वर्णवाला मनुष्य भी अपने से नीचे वर्ण को प्राप्त होता है और उसी निचले वर्ग में वह गिना भी जाना चाहिये। जिस २ पुरुष में जिस २ वर्ण के गुण-कर्म हों उसे उस २ वर्ण का ही अधिकार होना चाहिये। ऐसी व्यवस्था रखने से मनुष्य उन्नतिशील होता है क्योंकि उत्तम वर्णों को भय होगा कि यदि हमारी सन्तान मूर्ख-त्वादि दोषयुक्त होगी तो वह शूद्र हो जायगी और सन्तान भी डरती रहेगी कि यदि हम उक्त चाल-चलन वाले और विद्यायुक्त न होंगे तो हमें शूद्र होना पड़ेगा। गुणकर्मानुसार वर्णव्यवस्था होने से नीच वर्णों का उत्तमवर्णस्थ होने के लिये उत्साह भी बढ़ता है।

वर्णव्यवस्था गुण-कर्म-स्वभाव से होती है, रज-वीर्य के योग

से नहीं। जो कोई रज-वीर्य के योग से वर्ण-व्यवस्था माने और गुण-कर्मों के योग से न माने तो उससे पूछना चाहिए कि जो कोई अपने वर्ण को छोड़ नीच, अन्त्यज, क्रिश्चियन या मुसलमान हो गया हो तो तुम उसको भी ब्राह्मण क्यों नहीं मानते? यहाँ यही कहोगे कि उसने ब्राह्मण के कर्म छोड़ दिये इसलिये वह ब्राह्मण नहीं है। इससे फिर यह सिद्ध हो जाता है कि जो ब्राह्मणादि के उत्तम कर्म करते हैं वे ही ब्राह्मणादि हैं। तथा जो नीच वर्ण वाला भी उत्तम वर्ण के गुण-कर्म-स्वभाव वाला हो तो उसको भी उत्तम वर्ण में, और जो उत्तम वर्णस्थ होकर नीच कर्म करे तो उसको नीच वर्ण में, गिनना अवश्य चाहिये।

यजुर्वेद ३१ वें अध्याय का ११ वाँ मन्त्र निम्नलिखित है—

**ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।**
**ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥**

इसका अर्थ यह है कि "पूर्ण व्यापक परमात्मा की सृष्टि में जो मुख के सदृश सब में मुख्य अर्थात् उत्तम हो वह ब्राह्मण; बल-वीर्य का नाम बाहु है वह जिसमें अधिक हो वह क्षत्रिय; कटि के अधोभाग और जानु के उपस्थि भाग का का नाम उरु है, अतः जो सब देशों में व्यापार के निमित्त उरु के बल से जावे वह वैश्य; और जो पग अर्थात् नीच अंग के सदृश मूर्खत्वादि गुण वाला हो वह शूद्र है।

अन्यत्र शतपथ ब्राह्मण आदि में भी इस मन्त्र का ऐसा ही अर्थ किया है। जैसे:—

**"यस्मादेते मुख्यास्तस्मान्मुखतो ह्यसृज्यन्त"**

इसका अर्थ यह है कि "चूँकि ये मुख्य हैं, इसलिये ये मुख

---

❀ बाहुर्वै बलं, बाहुर्वै वीर्यम्। शतपथ ब्राह्मण।

से उत्पन्न हुए"। ऐसा कथन संगत भी है। अर्थात् जैसे मुख सब अङ्गों में श्रेष्ठ है वैसे पूर्ण विद्या और उत्तम गुण-कर्म-स्वभाव से युक्त होने के कारण मनुष्य जाति में उत्तम ब्राह्मण कहलाता है। जब परमेश्वर के निराकार होने से मुख आदि अंग ही नहीं हैं तब वास्तविक मुख आदि से तो इनका उत्पन्न होना असम्भव ही है। अतः पूर्वोक्त प्रकार से आलंकारिक वर्णन ही इस मन्त्र का मुख्य ध्येय समझना चाहिये।

जैसे पुरुष अपने गुणों और कर्मों के अनुसार वर्ण के योग्य होता है वैसे ही स्त्रियों के सम्बन्ध में भी व्यवस्था जाननी चाहिये।

इस प्रकार गुणकर्मानुसार व्यवस्था के होने से सब वर्ण अपने २ गुण कर्म और स्वभाव से युक्त होकर शुद्धता के साथ रह सकेंगे। अर्थात् इस प्रकार से ब्राह्मण के कुल में ऐसा कोई व्यक्ति न रह सकेगा जो कि क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र के गुण-कर्म-स्वभाव वाला हो, और ब्राह्मण के जैसे गुण और कर्म होने चाहिएँ वैसे गुणों और कर्मों से युक्त न हो। इसी युक्ति के अनुसार अन्य वर्ण अर्थात् क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी अपने २ शुद्धरूप में रह सकते हैं।

गुण-कर्मानुसार वर्णव्यवस्था में किसी वर्ण की निन्दा वा अयोग्यता का भी अवसर नहीं रहता।

यहाँ ऐसी आशंका न होनी चाहिये कि यदि किसी गृहस्थ के एक ही पुत्र या पुत्री हो और वह भी यदि गुण कर्मानुसार दूसरे वर्ण में प्रविष्ट हो जाय तो उस गृहस्थ का तो वंशोच्छेद ही हो जायगा। क्योंकि ऐसे गृहस्थ को अपने लड़के और लड़की के बदले उस गृहस्थ के वर्ण के योग्य दूसरी सन्तान विद्यासभा और राजसभा की व्यवस्था से मिल जायगी। इसलिये कोई भी अव्यवस्था न होगी।

गुण कर्मों के आधार पर वर्णों की व्यवस्था कन्याओं की १६वें वर्ष की और पुरुषों की २५ वें वर्ष की परीक्षा में निश्चित करनी चाहिये।

वर्णों के अपने २ कर्त्तव्य

विद्या और धर्म के प्रचार का अधिकार ब्राह्मण को देना चाहिये, क्योंकि वे पूर्ण विद्यावान् और धार्मिक होने से उस काम को यथायोग्य कर सकते हैं। क्षत्रियों को राज्य का अधिकार देने से हानि वा उसमें विघ्न नहीं होता।

वैश्य के काम हैं–देशों की भाषा, नाना प्रकार के व्यापारों की रीति तथा भाव जानना, बेचना, खरीदना, द्वीपद्वीपान्तर में आना-जाना, लाभार्थ काम का आरम्भ करना, पशु-पालन और खेत की उन्नति चतुराई से करनी-करानी, धन का बढ़ाना, उसका विद्या और धर्म की उन्नति में व्यय करना, तथा सत्यवादी, निष्कपटी होकर सत्यता से सब व्यापार करना, आदि।

शूद्र को सेवा का अधिकार इसलिए है कि वह विद्यारहित और मूर्ख होने से विज्ञान सम्बन्धी काम कुछ भी नहीं कर सकता किन्तु शरीर के काम सब कर सकता है। इसलिये शूद्र सब सेवाओं में चतुर और पाकविद्या में निपुण होना चाहिए। शूद्र अतिप्रेम से द्विजों की सेवा करे, और उन्हीं से अपनी आजीविका प्राप्त करे। और द्विज लोग इसके खान-पान, वस्त्र, स्थान और विवाहादि में जो कुछ व्यय हो सब कुछ देवें अथवा मासिक वृत्ति नियत कर देवें। चारों वर्णों को परस्पर की प्रीति, उपकार, और सज्जनता में, और परस्पर के सुख, दुःख, हानि और लाभ में, तथा राज्य और प्रजा की उन्नति में, एक मत होकर तन मन, और धन से व्यय करते रहना चाहिये।

इस प्रकार वर्णों को अपने २ अधिकार में प्रवृत्त करना राजा

आदि सभ्य जनों का काम है।

ऋषियज्ञ अर्थात् ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ अर्थात् अग्निहोत्र, भूतयज्ञ अर्थात् बलिवैश्वदेव, नृयज्ञ अर्थात् अतिथियज्ञ और पितृयज्ञ ये पाँच महायज्ञ हैं। गृहस्थी इन यज्ञों के करने से कभी चूके नहीं। यथा मनु :—

पंच महायज्ञ

**ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा।**

**नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत् ४।२१॥**

## (१) ब्रह्मयज्ञ और (२) देवयज्ञ

प्रथम "ब्रह्मयज्ञ" है, अर्थात् वेदादि शास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना, सन्ध्योपासना तथा योगाभ्यास। दूसरा "देवयज्ञ" है, अर्थात् विद्वानों का संग, सेवा, पवित्रता, दिव्यगुणों का धारण, दान तथा विद्या की उन्नति करना। ये दोनों यज्ञ सायं प्रातः करने होते हैं। जो सायंकाल में होम होता है, वह हुतद्रव्य, प्रातःकाल तक वायु-शुद्धि द्वारा सुखकारी होता है। तथा जो अग्नि में प्रातःकाल होम किया जाता है, वह हुतद्रव्य, सायंकाल पर्यन्त वायु की शुद्धि द्वारा बल, बुद्धि और आरोग्य का बढ़ाने वाला होता है। इसलिये दिन और रात्रि की सन्धि में अर्थात् सूर्योदय और सूर्यास्त समय में परमेश्वर का ध्यान और अग्निहोत्र अवश्य करना चाहिये।

## (३) पितृयज्ञ

देव अर्थात् विद्वान्, ऋषि अर्थात् पढ़ने-पढ़ाने हारे, और पितर अर्थात् माता-पिता आदि वृद्ध, ज्ञानी तथा परमयोगी जनों की सेवा करना पितृयज्ञ है। पितृयज्ञ के दो भेद हैं। एक श्राद्ध और दूसरा तर्पण ❋। श्रत् का अर्थ है सत्य। जिस क्रिया से

---

❋ यह तर्पण तीन प्रकार का होता है। देवतर्पण, ऋषितर्पण और पितृतर्पण।

सत्य का ग्रहण किया जाय उसको श्रद्धा और जो श्रद्धा से कर्म किया जाय उसको श्राद्ध कहते हैं। तथा जिस २ कर्म से तृप्ति अर्थात् विद्यमान माता-पिता आदि पितर प्रसन्न हों और प्रसन्न किये जाँय, उसका नाम तर्पण है। परन्तु यह जीवितों के लिए है, मृतकों के लिये नहीं।

## (४) बलिवैश्वदेव अर्थात् भूतयज्ञ

जब भोजन सिद्ध हो तब जो कुछ भोजनार्थ बने उसमें से खट्टा, लवणान्न और क्षार छोड़कर, घृत तथा मिष्ट से युक्त अन्न लेकर, चूल्हे से अग्नि अलग निकाल कर उस पर मन्त्रों से गृहस्थी आहुति दे तथा भिन्न-भिन्न भागों में पृथक् २ रखे। इस वैश्वदेव के तीन हिस्से हैं। १—जो कुछ पाकशाला में भोजनार्थ सिद्ध हो उसका, उसी पाकाग्नि में, मन्त्रों से विधिपूर्वक नित्य होम करना। २—तत्पश्चात् थाली में अथवा भूमि पर पत्ता रखकर पूर्व दिशा आदि के क्रमानुसार मन्त्रपूर्वक भिन्न-भिन्न भाग रखना। इन भागों को यदि कोई अतिथि हो तो उसको जिमा देवे अथवा अग्नि में छोड़ देवे। ३—इसके अनन्तर लवणान्न अर्थात् दाल, भात, शाक, रोटी आदि लेकर ६ भाग भूमि पर धरे। पश्चात् उसे किसी दुःखी या बुभुक्षित प्राणी, अथवा कुत्ते,कौए आदि को दे देवे अर्थात् कुत्ते, पापी, चांडाल, पापरोगी, कौए और कृमि अर्थात् चिउंटी आदि को वह अन्न दे देवे।

## ( ५ ) अतिथि सेवा या नृयज्ञ

अतिथि उसको कहते हैं जिसके आने की कोई तिथि निश्चित न हो, अर्थात् जो गृहस्थी के घर में अकस्मात् आ जाय। धार्म्मिक, सत्योपदेशक, सब के उपकारार्थ घूमने वाला, पूर्ण विद्वान् परमयोगी तथा संन्यासी अतिथि यदि गृहस्थ के घर में आवे तो गृहस्थी उसे प्रथम पाद्य, अर्घ्य और आचमनीय—तीन प्रकार का

जल—पैरों के धोने, मुख के धोने तथा आचमन के लिये देवे। पश्चात् आसन पर सत्कारपूर्वक बिठाए और खान-पान आदि उत्तमोत्तम पदार्थों द्वारा उसकी सेवा-शुश्रूषा करे। इस प्रकार उसे सब तरह प्रसन्न करे। पश्चात् सत्संग कर उससे ज्ञान और विज्ञान आदि सम्बन्धी उपदेशों का श्रवण करे, जिससे कि धर्म्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति हो। साथ ही अपना चालचलन भी उसके सदुपदेशानुसार रखे। समयानुसार गृहस्थी और राजा आदि भी अतिथिवत् सत्कार करने योग्य हैं।

यह स्मरण रखना चाहिये कि आजकल के जो वैरागी और खाकी आदि हैं जो कि हठी, दुराग्रही तथा वेदविरोधी हैं—ऐसों का सत्कार वाणी मात्र से भी गृहस्थी न करे। क्योंकि ऐसों का सत्कार करने से ये वृद्धि को प्राप्त होकर संसार को अधर्मयुक्त करते हैं। ये आप तो अवनति के काम करते हैं परन्तु साथ सेवक को भी अविद्यारूपी महासागर में डुबा देते हैं।

पञ्च-महायज्ञों के फल

इन पाँच महायज्ञों के फल ये हैं कि **ब्रह्मयज्ञ** के करने से विद्या, शिक्षा, धर्म्म और सभ्यता आदि शुभ गुणों की वृद्धि होती है।

**अग्निहोत्र** से वायु, वृष्टि और जल की शुद्धि होकर वृष्टि द्वारा संसार को सुख प्राप्त होता है। अर्थात् शुद्ध वायु के श्वास, स्पर्श और शुद्ध अन्न-जल के खान पान से आरोग्य, बुद्धि, बल और पराक्रम बढ़कर धर्म्म, अर्थ, काम और मोक्ष का अनुष्ठान पूरा होता है। अग्निहोत्र को देवयज्ञ इसलिये कहते हैं चूंकि यह देवों अर्थात् वायु आदि पदार्थों को शुद्ध कर देता है।

### पितृयज्ञ

का फल यह है कि गृहस्थी जब माता-पिता और ज्ञानी महात्माओं की सेवा करेगा तब उनकी कृपा से उसका ज्ञान बढ़ेगा

और गृहस्थी सत्यासत्य का निर्णय कर सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग से सुखी रहेगा । पितृयज्ञ का दूसरा फल है कृतज्ञता अर्थात् जैसी सेवा माता, पिता और आचार्य ने सन्तान और शिष्यों की की है उसका बदला देना भी उचित ही है और यह पितृयज्ञ द्वारा दिया जाता है ।

## बलिवैश्वदेवयज्ञ

में सिद्धान्न का पाकाग्नि में होम, दिव्यगुणों के अर्थ किया जाता है । इस होम के करने से पाकशालास्थ वायु शुद्ध होता है । और जो बिना जाने अदृष्ट जीवों की हत्या होती रहती है उसका प्रतिकार भी इस द्वारा होता है । इस द्वारा कुत्ते आदि प्राणियों को अन्न भी मिलता है ।

**अतिथियज्ञ** का फल यह है कि जब तक उत्तम अतिथि जगत् में नहीं होते तब तक उन्नति भी नहीं हो सकती । उनके सब देशों में घूमने और सत्योपदेश करने से पाखण्ड की वृद्धि भी नहीं होती, तथा इन द्वारा सर्वत्र गृहस्थों को सहज से विज्ञान की प्राप्ति होती रहती है, इस प्रकार मनुष्यमात्र में एक ही धर्म स्थिर रहता है । बिना अतिथियों के सन्देह की निवृत्ति नहीं होती । सन्देह निवृत्ति के विना दृढ़ निश्चय भी नहीं होता । निश्चय बिना सुख कहां ?

रात्रि के चौथे प्रहर अथवा चार घड़ी रात रहते गृहस्थी उठें । आवश्यक कार्य करके धर्म और अर्थ का, स्त्री पुरुष के अन्य शरीर के क्लेशों और उनके कारणों का, तथा परमात्मा का अनुचिन्तन करें । कभी अधर्म का आचरण न करें ।

गृहस्थ-कर्त्तव्य

ऋत्विक्, पुरोहित, आचार्य, मामा, अतिथि, आश्रित, बाल, वृद्ध, आतुर, वैद्य, श्वशुर आदि सम्बन्धियों, मित्र, पिता, बहिन,

भाई, पुत्री, और सेवक लोगों से विवाद अर्थात् लड़ाई-बखेड़ा कभी न करें। स्त्री और पुरुष को चाहिये कि जैसे दीमक बांबी को बनाती है वैसे भूतों को पीड़ा न देते हुए, परलोक अर्थात् परजन्म के सुखार्थ धीरे २ धर्म का संचय करें क्योंकि परलोक में एक धर्म ही सहायक होता है।

सदा दृढ़कारी, कोमल स्वभाव और जितेन्द्रिय हों। हिंसक, क्रूर और दुष्टाचारी पुरुषों से पृथक् रहने वाले और मन को जीतने वाले हों।

वाणी ही से सब व्यवहार सिद्ध होते हैं। अतः जो मिथ्या-भाषण करता है वह सब चोरी आदि पापों का करनेवाला होता है। इसलिये मिथ्याभाषण आदि अधर्म को छोड़ देवें। जो २ पराधीन कर्म हों उन २ का प्रयत्न से त्याग और जो २ स्वाधीन कर्म हों उन २ का प्रयत्न के साथ सेवन करें। परन्तु जो एक दूसरे के आधीन काम हैं उनको आधीनता से ही करना चाहिए; उदाहरण के लिए स्त्री पुरुषों का एक दूसरे के आधीन व्यवहार। स्त्री पुरुष समझें कि जब विवाह हुआ तब स्त्री के साथ पुरुष और पुरुष के साथ स्त्री बिक चुकी। स्त्री वा पुरुष परस्पर की प्रसन्नता के बिना कोई भी व्यवहार न करें। स्त्री का पूजनीय देव पति और पुरुष की पूजनीय तथा सत्कार करने योग्य देवी स्त्री है।

गृहस्थ यदि ब्राह्मणवर्णस्थ हों तो पुरुष लड़कों को पढ़ावे और सुशिक्षित स्त्री लड़कियों को पढ़ावे, तथा नानाविध उपदेश और वक्तृत्व करके इन्हें विद्वान् करें।

अपने-अपने कर्त्तव्य-कर्मों में सब बड़े हैं। परन्तु जैसे नदी और बड़े बड़े नद तब तक घूमते ही रहते हैं जब

गृहस्थाश्रम अन्य आश्रमों से छोटा है वा बड़ा?

तक समुद्र को प्राप्त नहीं होते, वैसे गृहस्थ ही के आश्रय से सब आश्रम स्थिर रहते हैं। बिना इस आश्रम के किसी आश्रम का कोई व्यवहार सिद्ध नहीं होता। चूंकि ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी—इन तीन आश्रमों को दान और अन्नादि देकर प्रतिदिन गृहस्थ ही इनका धारण करता है, इससे गृहस्थ ज्येष्ठाश्रम है, अर्थात् सब व्यवहारों में धुरन्धर कहाता है। इस लिए मोक्ष और संसार के सुख की जो इच्छा करता हो वह प्रयत्न से गृहस्थाश्रम का धारण करे। गृहस्थाश्रम दुर्बलेन्द्रिय अर्थात् भीरु और निर्बल पुरुषों से धारण करने के अयोग्य है। जो यह गृहस्थाश्रम न होता तो सन्तानोत्पत्ति के न होने से ब्रह्मचर्य, वान-प्रस्थ और सन्यासाश्रम कहां से हो सकते? जो कोई गृहस्थाश्रम की निन्दा करता है, वह निन्दनीय है। परन्तु तभी गृहस्थाश्रम में सुख होता है जब स्त्री और पुरुष दोनों परस्पर प्रसन्न, विद्वान् पुरुषार्थी और सब प्रकार से व्यवहार-ज्ञाता हों। इसलिये गृहस्था-श्रम के सुख का मुख्य कारण ब्रह्मचर्य और पूर्वोक्त स्वयंवर विवाह है।

# पंचम समुल्लास

## वानप्रस्थ तथा संन्यास की विधि

वानप्रस्थ की विधि

गृहस्थाश्रम के पश्चात्, ५०वें वर्ष की आयु में, द्विज अर्थात ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करें। जब सिर के केश श्वेत हो जायँ, त्वचा ढीली पड़ जाय और लड़के का लड़का भी होजाय तब वानप्रस्थ का विधान है। इस समय अपनी धर्म्मपत्नी को अपने पुत्रों के पास

रखदे अथवा वन में अपने साथ ले चले, परन्तु उसके साथ पति-पत्नी का सम्बन्ध त्याग दे।

ग्राम के आहार और वस्त्रादि उत्तमोत्तम पदार्थों को छोड़ देवे। नाना प्रकार के वनीय अन्न, तथा सुन्दर-सुन्दर शाक, मूल, फल, फूल और कन्दादि द्वारा पांच महायज्ञों को किया करे और उसी से अतिथि सेवा तथा अपना निर्वाह करे।

वानप्रस्थी के कर्तव्य

नित्य स्वाध्याय किया करे, इन्द्रियों को जीते, सबके साथ मैत्री व्यवहार करे, विद्यादि का दान देने हारा तथा सब पर दयालु हो। शरीर के लिये अति यत्न न करे। ब्रह्मचारी रहे। पदार्थों में ममता न करे। तपश्चर्या, सत्सङ्ग, योगाभ्यास तथा सुविचार से ज्ञान और पवित्रता प्राप्त करता रहे, तथा श्रद्धामय बने।

वानप्रस्थी को जब संन्यास ग्रहण करने की इच्छा हो तब वह स्त्री को पुत्रों के पास भेज देवे। वन में आयु का तीसरा भाग अर्थात् ५० वें वर्ष तक का भाग बिता कर, आयु के चौथे भाग में संगों को छोड़ कर परिव्राट् अर्थात् संन्यासी होवे। जब भी पूर्ण वैराग्य होजाय तभी संन्यास ग्रहण कर सकता है। पूर्ण वैराग्य होने पर सीधे गृहस्थ से तथा ब्रह्मचर्य से भी संन्यास ग्रहण कर सकता है। परन्तु ब्रह्मचर्य से संन्यास ग्रहण तभी करे यदि वह पूर्ण विद्वान, और जितेन्द्रिय हो तथा विषय-भोग कामना से रहित और परोपकार करने की इच्छा से युक्त हो। परमेश्वर की प्राप्ति के अर्थ यज्ञ करके उसमें यज्ञोपवीत और शिखा आदि चिन्हों को छोड़, पुत्रैषणा, धनैषणा, तथा लोकैषणा, से ऊँचा उठकर संन्यास ग्रहण करे।

संन्यास की विधि

केश, नख, दाढ़ी और मूछों का छेदन करावे। सुन्दर पात्र,

संन्यासी के चिन्ह

दण्ड और कुसुम्भ आदि से रंगे वस्त्रों को धारण करे। परन्तु संन्यासी अपने मन में यह निश्चित जान लें कि दण्ड, कमण्डलु और काषाय वस्त्र आदि चिन्हों के धारण कर लेने मात्र में कोई धर्म नहीं है।

संन्यासी के कर्त्तव्य

संन्यासी सब भूतों अर्थात् प्राणिमात्र को अभयदान देवे। सदा सत्य बोले, मन से विचार कर सत्य का ग्रहण करे और असत्य को छोड़ देवे। संन्यासी पर यदि कोई क्रोध करे या उसकी कोई निन्दा करे तो संन्यासी को उचित है कि उस पर आप क्रोध न करे किन्तु सदा उसे कल्याणार्थ उपदेश ही करे। इन्द्रियों को अधर्माचरण से रोक, राग द्वेष को छोड़ तथा सब प्राणियों से निर्वैर व्यवहार कर मोक्ष के लिये सामर्थ्य बढ़ाता रहे। प्राणायाम से आत्मा, अन्तःकरण और इन्द्रियों के दोषों को, धारणा से पाप को, प्रत्याहार से सङ्गदोष को, और ध्यान से हर्ष, शोक और अविद्यादि दोषों को भस्मीभूत करे। तथा ध्यानयोग से अपने आत्मा और अन्तर्यामी परमेश्वर की गति को देखे। सब पदार्थों में निस्पृह और आकांक्षारहित हो, तथा बाहर-भीतर के सब व्यवहारों में पवित्र भाव रखें। संन्यासियों का मुख्य कर्म्म यही है कि वे सब गृहस्थादि आश्रमियों को सब प्रकार के व्यवहारों का सत्य निश्चय करा, और अधर्म व्यवहारों से छुड़ा उनके सब संशयों को छेदन कर, सत्य और धर्म्मयुक्त व्यवहारों में प्रवृत्त कराया करें।

संन्यास का अधिकार

संन्यास ग्रहण करने का अधिकार ब्राह्मण ही को है। क्योंकि जो सब वर्णों में पूर्ण विद्वान्, धार्मिक तथा परोपकार-प्रिय मनुष्य है उसी का

नाम ब्राह्मण है। बिना पूर्णविद्या के, बिना धर्म्म और परमेश्वर की निष्ठा तथा वैराग्य के, संन्यास ग्रहण करने से, संसार का विशेष उपकार नहीं हो सकता। इसीलिये लोकश्रुति है कि ब्राह्मण को संन्यास का अधिकार है, अन्य को नहीं।

जैसे शरीर में सिर की आवश्यकता है वैसे ही आश्रमों में संन्यासाश्रम की आवश्यकता है। क्योंकि—

संन्यास ग्रहण की आवश्यकता

१—इसके बिना विद्या और धर्म्म कभी नहीं बढ़ सकता।

२—दूसरे आश्रमों के साथ विद्याग्रहण, गृहकृत्य और तपश्चर्यादि का सम्बन्ध होने से इन आश्रमियों को अवकाश बहुत कम मिलता है, अतः ये आश्रमी धर्म तथा परोपकार में अधिक अग्रसर नहीं हो सकते।

३—पक्षपात छोड़कर वर्तना दूसरे आश्रमों को दुष्कर है।

४—जैसा संन्यासी सर्वतोमुक्त होकर जगत् का उपकार कर सकता है वैसा अन्य आश्रमी नहीं कर सकता। क्योंकि संन्यासी को सत्य विद्या से पदार्थों के विज्ञान की उन्नति का जितना अवकाश मिलता है उतना अन्य आश्रमी को नहीं मिल सकता। परन्तु जो ब्रह्मचर्य्य से ही संन्यासी होकर और सत्य शिक्षा देकर जगत् की जितनी उन्नति कर सकता है, उतनी उन्नति गृहस्थ वा वानप्रस्थ आश्रम से संन्यासाश्रम ग्रहण कर संन्यासी नहीं कर सकता।

५—संन्यासी को भ्रमण का भी अवकाश अधिक मिल सकता है। एकत्र-वास करने से जगत् का उपकार अधिक नहीं हो सकता तथा एकत्रवास से विशेष स्थान के साथ प्रेम, और तद्वासियों के साथ रागद्वेष की भी सम्भावना हो जाती है। परन्तु यदि विशेष उपकार एकत्र रहने से होता हो तो संन्यासी एक स्थान में भी रहे। जैसे जनक राजा के पास चार-चार महीनों

तक पंचशिख आदि तथा अन्य संन्यासी कितने ही वर्षों तक निवास करते रहे थे।

विद्या पढ़ने, सुशिक्षा लेने और बलवान् होने आदि के लिये ब्रह्मचर्य्याश्रम, सब प्रकार के उत्तम व्यवहार सिद्ध करने के अर्थ गृहस्थ, विचार-ध्यान और विज्ञान बढ़ाने तथा तपश्चर्या करने के लिये वानप्रस्थ, और वेदादि सत्यशास्त्रों का प्रचार, धर्म्मपूर्ण व्यवहार के ग्रहण और दुष्ट व्यवहार के त्याग कराने, सत्योपदेश करने तथा सबको निःसंदिग्ध करने आदि के लिये संन्यासाश्रम है। जो संन्यासी होकर भी संन्यास का मुख्य धर्म्म अर्थात् सत्योपदेश आदि नहीं करते, वे पतित और नरकगामी होते हैं। इससे संन्यासियों को उचित है कि वे सत्योपदेश, शङ्का-समाधान, वेदादि सत्यशास्त्रों का अध्ययन और वेदोक्त धर्म्म की वृद्धि प्रयत्न से कर सब संसार की उन्नति किया करें।

भिन्न भिन्न आश्रमों के कर्त्तव्य

# षष्ठ समुल्लास

## राजधर्मविषय

राजव्यवस्था के लिये राज्य में राजा, राजसभाओं, मन्त्रियों न्यायालयों, राजदूतों, गुप्तचरों, राज्यकर्मचारियों, संग्रामादि की व्यवस्थाओं, सेनाओं तथा सेनापति आदिकों की आवश्यकता होती है।

इन सब में से राजा सब का मुखिया है। वेदों के मन्तव्य के अनुसार राजा को प्रजा चुनती है और इसे हटा भी सकती है। उस पुरुष को राजा चुनना चाहिये जो कि प्रजा में सर्वश्रेष्ठ हो, शत्रुओं को जीत सके, प्रशंसनीय गुण-कर्म-स्वभाव से

राजा

युक्त हो, सत्करणीय हो, शरण्य हो, और परम सुशिक्षित हो; तथा जो विद्युत की भाँति शीघ्रता से ऐश्वर्य उत्पन्न करने वाला हो, वायु के समान सबको प्राणवत् प्रिय हो, पक्षपातरहित न्यायाधीश के समान वर्तने वाला हो, सूर्य के समान न्याय, धर्म और विद्या का प्रकाशक तथा अन्धकार अर्थात् अविद्या और अन्याय का विरोधी हो, अग्नि के समान दुष्टों को भस्म करने वाला हो, वरुण की न्याईं दुष्टों को अनेक प्रकार से बांधने वाला, चन्द्र की न्याईं श्रेष्ठ पुरुषों को आनन्द देने वाला और धनाध्यक्ष की न्याईं कोषों का पूर्ण करने वाला हो। इस राजा को राज्यव्यवस्था के निमित्त राज्यसभाओं के आधीन रहना चाहिये। और यह राजा राज्य-कार्यों में स्वतन्त्र न होता हुआ सभाओं की सम्मति से अर्थात् सभा के सभापति के रूप में कार्य किया करे।

राष्ट्र की तीन सभाएं

ऋग्वेद, मण्डल ३, सूक्त ३८ का छठा मन्त्र राजसभाओं के सम्बन्ध में निम्नलिखित है। यथा—

**त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परि**
**विश्वानि भूषथः सदांसि ॥**

इसका अर्थ यह है कि राजा और प्रजा के पुरुष मिल कर, सुखप्राप्ति और विज्ञानवृद्धिकारक राजा और प्रजा के सम्बन्ध रूप व्यवहार में तीन सभाओं अर्थात् विद्यार्यसभा, धर्मार्यसभा और राजार्यसभा को नियत करके, बहुत प्रकार के समग्र प्रजास्थ मनुष्यों को, विद्या, धर्म, स्वातन्त्र्य, सुशिक्षा और धनादि से अलं-कृत करें। इस प्रकार इस मन्त्र में राजव्यवस्था के लिये परमात्मा ने वेद द्वारा तीन सभाओं के निर्माण का उपदेश दिया है।

इन सभाओं के सभासदों तथा सभापति के गुण

महाविद्वानों को विद्यार्यसभा के सभासद्, धार्मिक विद्वानों को धर्मार्यसभा के सभासद् तथा प्रशंसनीय धार्मिक पुरुषों को राजार्यसभा के सभासद् बनाना चाहिये। और जो उन सब में सर्वो-

त्तम गुण-कर्म-स्वभाव युक्त महान् पुरुष हों उनको राजार्यसभा का प्रतिरूप मानें। सभासद् और सभापति वही हो सकते हैं जो कि चारों वेदों की विद्याओं, सनातन दण्ड-नीति, न्यायविद्या तथा वार्त्ताओं का कहना और पूछना अच्छी प्रकार जानते हों। सभासद् और सभापति इन्द्रियों को जीत और इन्हें अपने वश में रखकर सदा धर्म में वर्तें और अधर्म से हटे रहें तथा दृढ़ोत्साही होकर काम और क्रोध से उत्पन्न होने वाले दुष्ट व्यसनों को प्रयत्न से छोड़ देवें।

8249

सभा या परिषत् क सभासदों की संख्या

न्यून-से-न्यून १० विद्वानों अथवा बहुत न्यून हों तो ३ विद्वानों की सभा जैसी व्यवस्था करे उसका उल्लंघन कोई भी न करे। १० विद्वानों की परिषद् की अवस्था में वे विद्वान् निम्न-लिखित होने चाहियें। ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद के [३] ज्ञाता, न्यायशास्त्र का ज्ञाता, मीमांसा का ज्ञाता, निरुक्त का ज्ञाता, धर्मशास्त्र का ज्ञाता तथा ब्रह्मचारियों गृहस्थियों तथा वानप्रस्थियों का एक २ प्रतिनिधि। तीन विद्वानों की परिषद् के सम्बन्ध में ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के ज्ञाता तीन विद्वान् सभासद् होने चाहियें। इन द्वारा की गई व्यवस्था का कोई भी उल्लंघन न करे।

सब वेदों का जानने हारा, द्विजों में उत्तम, अकेला संन्यासी भी जिस धर्म की व्यवस्था करे उसे श्रेष्ठधर्म जानना चाहिये। और अज्ञानी सहस्रों, लाखों तथा करोड़ों भी मिलकर जो कुछ व्यवस्था करें, उसे कभी न मानना चाहिये। जो ब्रह्मचर्य तथा सत्य-भाषणादि व्रत, वेदविद्या वा विचार से रहित, जन्ममात्र से शूद्रवत् हैं, उन सहस्रों मनुष्यों के मिलने से भी सभा नहीं कहलाती।

इसलिये विद्यार्यसभा, धर्मार्यसभा, और राजार्यसभा में मूर्खों को कभी भरती न करना चाहिये, किन्तु सदा विद्वान् और धार्मिक

पुरुष ही भरती करने चाहियें।

किसी एक व्यक्ति को राज्य का स्वतन्त्र अधिकार न देना चाहिए। किन्तु, राजा जो कि सभापति रूप है, उसके आधीन सभा, और सभा के आधीन राजा; इसी प्रकार राजा और सभा प्रजा के आधीन, तथा प्रजा राजसभा के आधीन रहें। यदि प्रजा से स्वतन्त्र तथा स्वाधीन राजा और राजवर्ग रहेंगे तो वे प्रजा का नाश कर देते हैं। क्योंकि अकेला राजा स्वाधीन या उन्मत्त होकर प्रजा का नाशक होता है अर्थात् वह राजा प्रजा को खाये जाता है। इसलिए किसी एक को राज्य में स्वाधीन न करना चाहिए।

राजा, राजसभाओं तथा प्रजा का परस्पर सम्बन्ध

उपरोक्त तीनों सभाओं की सम्मति से राजनीति के उत्तम नियम बना करें और इन नियमों के आधीन सब लोग वर्ता करें। सब के हितकारक कामों में सभासद् अपनी २ सम्मति दिया करें। सर्वहित करने के लिये सभासद् परतन्त्र हैं, और निज धर्मयुक्त कामों में वे स्वतन्त्र हैं।

नियम बनाना

उपरोक्त प्रत्येक सभा में से एक-एक मुख्य सभासद् चुनना चाहिए जो कि सभा के कार्यों का निर्वाहन करे। इस मुख्य सभासद् तथा अन्य शेष सभासदों को राजा आज्ञा देवे कि हे सभा के योग्य मुख्य सभासद्! तू मेरी सभा की धर्म्मयुक्त व्यवस्था का पालन कर और जो सभा के योग्य सभासद् हैं वे भी सभा की व्यवस्था का पालन करें।

सभापतियों तथा सभासदों को राजाज्ञा

इस प्रकार की राजाज्ञा के सम्बन्ध में अथर्ववेद का आगे दिया मन्त्र अवश्य स्मरण रखना चाहिये। यथा:—

सभ्य ! सभां मे पाहि

ये च सभ्याः सभासदः ॥ का० १६, वर्ग ५५ मं० ६ ॥

राजा अपने राज्य अर्थात् स्वदेश में उत्पन्न, वेदादि शास्त्रों के जानने वाले, शूरवीर, जिनका लक्ष्य अर्थात् विचार निष्फल न हों ऐसे, कुलीन, अच्छे प्रकार परीक्षित, उत्तम धार्मिक और चतुर—सात वा आठ मन्त्री नियत करे। क्योंकि विशेष साहाय्य के विना सुगम काम भी एक के करने में कठिन ही हो जाते हैं, तो महान् राज्य-कर्म एक से कैसे हो सकता है ? इसलिये एक को राजशक्ति दे देना और एक की बुद्धि पर राज्य के कार्य का निर्भर रखना बहुत ही बुरा काम है। इसलिए राजा मन्त्रीमण्डल का निर्माण करे। स्वयं राजा उस मण्डल का सभापति होकर राजकर्मों में कुशल विद्वान् मन्त्रियों के साथ निम्नलिखित छः गुणों का विचार नित्य-प्रति किया करे। छः गुण, यथा—

मन्त्रिमण्डल

१—सन्धि—अर्थात् किसी राष्ट्र से मित्रता करना।

२—विग्रह—अर्थात् किसी राष्ट्र से विरोध करना।

३—स्थिति—अर्थात् समय को देखकर चुपचाप रहना अथवा अपने राज्य की रक्षा करके बैठे रहना

४—समुदाय—अर्थात् अपने राष्ट्र का जब उदय अर्थात् वृद्धि देखे तब दुष्ट शत्रु पर चढ़ाई करना।

५—गुप्ति—अर्थात् राजसेना और कोषादि की रक्षा करना।

६—लब्धप्रशमन—अर्थात् जो २ देश विजय में प्राप्त हों उस-उसमें शान्तिस्थापन करना और उसे उपद्रव रहित करना।

सभापति राजा को चाहिये कि वह मन्त्रियों के पृथक् २ विचारों तथा अभिप्रायों को सुने और बहुपक्ष द्वारा निश्चित

कार्यों को, जो कार्य कि अपना तथा अन्यों का हित करने वाले हों, करने लगे। आवश्यकता होने पर ऊपर कही संख्या से अधिक मन्त्री भी राजा नियत करे। मन्त्री पवित्रात्मा, बुद्धिमान्, निश्चित बुद्धिवाले, पदार्थों के संग्रह करने में अति चतुर तथा सुपरीक्षित हों। एकान्त स्थान में बैठकर, विरुद्ध भावना को त्यागकर, राजा मन्त्रियों के साथ विचार किया करे, तथा सभासदों की अनुमति से कार्य किया करे।

बड़े २ नगरों में विचार करनेवाली एक २ सभा होनी चाहिये।

*नगर-सभा या म्यूनिसिपेलिटी*

इसका सभागृह सुन्दर, उच्च और विशाल बनाना चाहिये। इसमें बड़े २ विद्यावृद्ध—जिन्होंने कि विद्या से सब प्रकार की परीक्षा की हो—बैठकर विचार किया करें। जिन नियमों से राजा और प्रजा की उन्नति हो वैसे २ नियम बनाया करें और नगर में विद्या का प्रकाश किया करें।

मुख्य न्यायाधीश सब विद्याओं में पूर्ण विद्वान् होना चाहिये।

*न्यायालय*

न्याय-सभा में, न्याय, विचारपूर्वक होना चाहिये। न्याय व्यवस्था के लिये, न्यायालय में, धार्मिक, विद्वान्, निष्कपटी, निर्लोभी और सत्यवादियों को ही साक्षी मानना चाहिये।

स्त्रियों के साक्षी स्त्रियाँ, द्विजों के साक्षी द्विज, शूद्रों के शूद्र और अन्त्यजों के अन्त्यज हुआ करें। बलात्कार के कामों तथा व्यभिचार आदि अपराधों में साक्षी की आवश्यकता नहीं, क्योंकि ये काम सब गुप्त होते हैं।

दोनों ओर की साक्षियों को सुन, बहुपक्षानुसार न्याय करना चाहिए। संख्या में तुल्य २ साक्षियों के होने पर उत्तमगुणी पुरुषों की साक्षी के अनुकूल फैसला देवें। यदि दोनों के साक्षी

उत्तमगुणी तथा संख्या में तुल्य हों तो द्विजोत्तमों अर्थात् ऋषि, महर्षि, और यतियों की साक्षी के अनुसार न्याय करे ।

साक्षी यदि सत्य बोले तो उसे किसी प्रकार का दण्ड न मिलना चाहिए। साक्षी के असत्य बोलने पर जिह्वा-छेद का दण्ड भी मिल सकता है। जब वादी और प्रतिवादी के सामने, न्यायसभा में साक्षी आवें तब न्यायाधीश और प्राड्विवाक् अर्थात् वकील या बैरिस्टर उन्हें सत्य बोलने का उपदेश देवें। झूठे साक्षियों को धन का दण्ड भी देना चाहिए। निर्धन होने की अवस्था में धन-दण्ड कम भी किया जा सकता है, परन्तु धनिकों से धन-दण्ड तो दूना, तिगुणा तथा चौगुना तक भी लेवें।

दण्डनीय को प्रथम वाणी का दण्ड देना चाहिए, अर्थात् प्रथम उसकी निन्दा करनी चाहिये। दूसरा अधिक दण्ड होना चाहिये, अर्थात् उसे धिक्कारना चाहिये। तीसरा धन-दण्ड होना चाहिये। और चौथा बध-दण्ड होना चाहिये, अर्थात् कोड़े या बेत लगाने चाहियें वा सिर तक भी काट लेना चाहिये।

जिसका जितना ज्ञान और जितनी प्रतिष्ठा अधिक हो उसको अपराध में, उतना ही अधिक दण्ड देना चाहिये।

यदि राजा, रानी अथवा न्यायाधीश वा उसकी स्त्री कुकर्म करे तो उन्हें राज-सभा दण्ड देवे, और प्रजा पुरुषों की अपेक्षा अधिक देवे। जब सब प्रजा, प्रधान राज्याधिकारी लोग और सभा, धार्मिकता से राजा को भी दण्ड देना चाहें तो अकेला राजा कर ही क्या सकता है? क्योंकि न्याययुक्त दण्ड ही को राजा समझना चाहिये, किसी व्यक्ति विशेष को नहीं।

**शस्त्रास्त्र, सेना और किला**

राष्ट्र में, आग्नेयादि अस्त्र, शतघ्नी अर्थात् तोप, और भुसुण्डी अर्थात् बन्दूक, धनुष, बाण तथा तलवार आदि शस्त्र शत्रुओं के पराजय करने और रोकने के लिये प्रशंसित तथा दृढ़ हों। राष्ट्र

की सेना प्रशंसनीय हो जिससे कि सदा विजय हो। सब सेना और सेनापतियों के ऊपर मुख्य सेनापति को स्थापित करना चाहिये।

स्थलयुद्ध के लिये रथों, अश्वों, हाथियों, पदातियों तथा शस्त्रास्त्रों का, जलयुद्ध के लिए नौकाओं और जहाज़ों का, आकाशयुद्ध के लिये विमानों का प्रबन्ध राजा करे। राजा सब राजपुरुषों को युद्ध विद्या सिखावे। प्रतिदिन प्रातःकाल राजा सेनाध्यक्षों के साथ मिला करे और उन्हें हर्षित किया करे। सेना की कवायद और हाथी, घोड़ों तथा शस्त्रास्त्रों का सदा ख्याल रक्खा करे।

राजा राष्ट्र में किले भी बनावे क्योंकि उसमें स्थित हुआ एक भी धनुर्धारी शस्त्रयुक्त वीरपुरुष सौ के साथ, और सौ पुरुष दस हज़ार के साथ युद्ध कर सकते हैं। वे दुर्ग या किले, शस्त्रास्त्र, धनधान्य, वाहन, कारीगर, नाना प्रकार की कलाओं, चारा, घास तथा जल आदि से परिपूर्ण होने चाहिएँ।

अपने सैनिकों के साथ व्यवहार

राजा सेनास्थ योद्धाओं को उस धन में से जो कि सबने मिलकर जीता हो, १६वां भाग देवे। और जो कोई युद्ध में मर गया हो उसकी स्त्री और सन्तान को उसका भाग देवे और उसकी स्त्री तथा असमर्थ लड़कों का यथावत् पालन करे। जब उसके लड़के समर्थ हो जायँ तब उन्हें यथायोग्य अधिकार देवे। जो कोई अपने राज्य की वृद्धि, प्रतिष्ठा, विजय और आनन्द चाहता हो, वह इस मर्यादा का उल्लंघन कभी न करे।

वह अपनी सेना से शत्रु के बल का निग्रह करे अर्थात् शत्रु को रोक लेवे। और सेना की सेवा, सब यत्नों से, गुरु के सदृश नित्य किया करे। जिस समय युद्ध होता हो उस समय

लड़ने वालों को उत्साहित और हर्षित किया करे और जब युद्ध बन्द हो जाय तब जिससे शौर्य और युद्ध में उत्साह बना रहे वैसी वक्तृता करे, और सब के चित्त को खान-पान, सहायता और औषधि से प्रसन्न रखे ।

राजदूत अर्थात् Ambassador.

जो प्रशंसित कुल में उत्पन्न, चतुर, पवित्र, हावभाव और चेष्टा से भीतरी हृदय की बात जाननेवाला, भविष्यत् में होनेवाली बात को पूर्व ही समझने-वाला, तथा सब शास्त्रों में विशारद हो—उसे राजदूत बनाना चाहिये । जो राजकार्य में अत्यन्त उत्साही तथा उसमें अत्यन्त प्रीति से लगे, जो निष्कपटी पवित्रात्मा हो, तथा बहुत समय की बात को भी न भूले, देश और काल का ज्ञाता हो, सुन्दर रूपयुक्त, निर्भय तथा उत्तम वक्ता हो—वह राजदूत होने में प्रशस्त है । राजदूत में फूट में मेल कराने तथा मिले हुए दुष्टों को तोड़-फोड़ देने का सामर्थ्य होना चाहिये । सभापति राजा, सब विरोधी राज्य के सभासद् तथा राज-दूत आदि का अभिप्राय ठीक २ जानकर ऐसा यत्न करें जिससे कि अपने को पीड़ा न हो ।

गुप्तचर

राष्ट्र में दो सभापति होने चाहियें । इनमें से एक राज-सभा में कार्य किया करे और दूसरा अध्यक्ष, आलस्य छोड़कर सब न्यायाधीशादि राजपुरुषों के कामों को सदा घूमकर देखता रहे । जो नित्य घूमनेवाला सभापति हो उसके आधीन सब गुप्तचरों को रखे । उन द्वारा राजपुरुषों और प्रजापुरुषों के दोष और गुण गुप्त रीति से जाना करे । जिनका अपराध हो उनको दण्ड और जिनका गुण हो उनकी प्रतिष्ठा सदा किया करे ।

जितने मनुष्यों से कार्य सिद्ध हो सके उतने आलस्यरहित,

राज्य कर्मचारी वर्ग

बलवान् और बड़े २ चतुर प्रधानपुरुषों को अधिकारी अर्थात् नौकर रखे। राज्यकार्य में विविध प्रकार के अध्यक्षों की सभा नियत करे।

राजा जिनको प्रजा की रक्षा का अधिकार देवे वे धार्मिक, सुपरीक्षित, विद्वान् तथा कुलीन होने चाहियें। इन अधिकारियों के आधीन शूरवीर, बलवान्, कुलीन तथा पवित्र भृत्यों को बड़े २ काम और भीरु डरपोकों को भीतर के कामों में नियुक्त करे। साथ ही उन अधिकारियों के आधीन प्रायः शठ और पर-पदार्थ के हरनेवाले चोर डाकुओं को भी वेतन पर नौकर रखे और इन द्वारा प्रजा की रक्षा करे। अध्यक्षों का काम है कि वे देखते रहें कि अन्य राजपुरुष नियमानुसार यथावत् काम करते हैं या नहीं। जो यथावत् काम करें उनका सत्कार तथा जो विरुद्ध करें उन्हें यथावत् दण्ड दिया करें।

युद्ध में किन पर शस्त्रपात न करना चाहिये

युद्ध में इधर-उधर खड़े हुए, नपुंसक, हाथ जोड़े हुए, सिर से खुले बालों वाले, बैठे हुए, शरणागत, सोए हुए, मूर्छित, नग्न, आयुध से रहित, युद्धदर्शक, शत्रु के साथी, दुःखी, अत्यन्त घायल, आयुध के प्रहार से पीड़ित, डरे हुए तथा पलायमान मनुष्यों को, सत्पुरुषों के धर्म का स्मरण करते हुए योद्धा लोग कभी न मारें।

युद्ध में पकड़े गये शत्रु के साथ व्यवहार

युद्ध में हारे शत्रुओं को पकड़ ले। जो अच्छे हों उन्हें बन्दी-गृह में रख दे और भोजन, आच्छादन उन्हें यथावत् देवे। जो घायल हों उनकी औषधादि विधिपूर्वक करे। उन्हें न चिड़ावे, न दुःख देवे। जो उनके योग्य काम हो करावे। इस बात पर विशेष ध्यान रखे कि स्त्री, बालक, वृद्ध, आहत तथा शोकयुक्त

पुरुषों पर शस्त्र कभी न चलावे। उनकी सन्तान को अपनी सन्तानवत् पाले और स्त्रियों को भी पाले, उनकी स्त्रियों को अपनी बहन और कन्या के समान समझे। जब राज्य अच्छे प्रकार जम जाय तब जिन से पुनः युद्ध करने की आशंका न रहे, उन्हें सत्कार-पूर्वक छोड़ कर उन्हें उनके घर वा देश भेज देवे; और जिनसे भविष्यत् में विघ्न होना सम्भव हो उन्हें सदा कारागार में रखे।

**पराजित राजा और उसका राज्य**

जो धार्मिक राजा हो उससे राजा विरोध कभी न करे किन्तु उससे सदा मेल रखे। दुष्ट राजा चाहे प्रबल भी हो तो उसके विजय के लिये सब प्रकार से यत्न किया करे। शत्रु पर विजय पाकर उससे प्रतिज्ञादि लिखवा लावे। जो उचित समय समझे तो उसी के वंशस्थ किसी धार्मिक पुरुष को विजित देश का राजा बना देवे, और उससे लिखवा ले कि तुमको हमारी आज्ञा के अनुकूल—अर्थात् जैसी धर्मयुक्त राजनीति है उसके अनुसार—चलकर न्याय से प्रजा का पालन करना होगा, तथा उसके पास ऐसे पुरुष रखे जिससे कि पुनः उपद्रव होने की आशंका न रहे।

हारे हुए राजा का सत्कार अपने प्रधानपुरुषों समेत रत्नादि उत्तम पदार्थों के दान से करे। ऐसा कभी न करे जिससे कि उसका योगक्षेम न हो सके। यदि उसे बन्दीगृह में रखे तो भी उसका यथायोग्य रखे, ताकि वह पराजय के शोक से रहित होकर आनन्द में रहे। उसे कभी चिढ़ाए नहीं, न उसकी हंसी न करे, न ठट्ठा और न उसके सामने कहे कि हमने तुझ को पराजित किया है। किन्तु "आप हमारे भाई हैं"—इत्यादि प्रकार से उसे मान-प्रतिष्ठा सदा दिया करे।

जो राजपुरुष अन्याय से, वादी प्रतिवादी से, गुप्तधन लेकर पक्षपात से अन्याय करे—राजा उसका सर्वस्व हरण करे और उसे यथायोग्य दण्ड देकर ऐसे देश में रखे जहाँ से लौट कर वह पुनः न आ सके। ताकि अन्य राजपुरुष ऐसा दुष्ट काम न करें।

राजकर्मचारियों का वेतन

जितने से राजकर्मचारियों का योगक्षेम भलीभाँति हो और वे भलीभाँति धनाढ्य भी हो सकें, उतना धन वा भूमि राज्य की ओर से मासिक, वार्षिक वा एक बार उन्हें मिला करे! और जो वृद्ध हो जाँय उन को भी आधा वेतन मिला करे। परन्तु राजा यह ध्यान में रखे कि जब तक राजकर्मचारी जीते रहें तब तक उन्हें वह जीविका मिलती रहे, पश्चात् नहीं। परन्तु इनकी मृत्यु के पश्चात् भी इनकी सन्तानों का सत्कार वा नौकरी सन्तान के गुणों के अनुसार अवश्य करे वा देवे। तथा जिसके बालक जब तक समर्थ न हो जांय तब तक उनके निर्वाहार्थ तथा यदि स्त्री जीती हो तो उस के भी निर्वाहार्थ राज्य की ओर से यथायोग्य धन मिला करे। परन्तु यदि उसकी स्त्री वा बालक कुकर्मी हो जाँय तो कुछ भी न मिला करे।

राज्य कर

राजा वार्षिक कर आप्त पुरुषों के द्वारा ग्रहण किया करे। जिस प्रकार राजा, राजपुरुष वा प्रजाजन सुखरूप फल से युक्त हों, वैसा विचार कर, राजा तथा राजसभा राज्य में कर स्थापन करें। जैसे जोंक, बछड़ा और भ्रमर थोड़े २ भोग्य पदार्थ का ग्रहण करते हैं वैसे राजा प्रजा से थोड़ा २ वार्षिक कर लेवे। राजा कर के उतने अंश का ही भोग करे जितना कि सभा उसके लिए नियत करे। राजा प्रजा से धन इस प्रकार लेवे कि जिससे किसान आदि

खाने, पीने और धन से रहित होकर दुःख न पावें। क्योंकि प्रजा के धनाढ्य, और नीरोग होने तथा खान पान आदि में सम्पन्न रहने से राजा की बड़ी उन्नति होती है। प्रजा को राजा अपनी सन्तान के सदृश सुख देवे। यह बात ठीक है कि राजाओं के किसान आदि परिश्रम करने वाले हैं और राजा उनका रक्षक है। प्रजा की साधारण सम्मति के विरुद्ध राजा व राजपुरुष न हुआ करें।

# सप्तम सुमुल्लास

## ( ईश्वर और वेद विषय )

### ( १ ) ईश्वर विषय

ईश्वर का स्वरूप

ईश्वर दिव्य गुण-कर्म-स्वभाव वाला और विद्यायुक्त है। इसमें पृथिवी और सूर्यादि लोक स्थित हैं। यह आकाश के समान व्यापक है। देव अर्थात् महादेव है। सब जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कर्त्ता, न्यायाधीश तथा सब का अधिष्ठाता है। सब जगत् में व्याप्त और उसका नियन्ता है। सबसे पूर्व विद्यमान, सब जगत् का पति तथा सनातन जगत्कारण है। वह सूर्य के सदृश्य सब जगत् का प्रकाशक है। न जन्म लेता है, न मृत्यु को प्राप्त होता है। वेदों का प्रकाशक, कर्म-फल का दाता, सुखस्वरूप, निराकार, न्यायकारी, दयालु, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी तथा जगत्स्वामी है।

ईश्वर की सत्ता में निम्नसिखित प्रमाण हैं—

१—ईश्वर प्रत्यक्ष द्वारा भी जाना जाता है। प्रत्यक्ष उसे कहते हैं जिसका कि ज्ञान इन्द्रिय द्वारा होता है। अब

ईश्वर की सत्ता विचारना चाहिए कि इन्द्रियों और मन से गुणों का प्रत्यक्ष हुआ करता है, गुणी का नहीं । जैसे त्वचा आदि इन्द्रियों से स्पर्श, रूप, रस, गन्ध का प्रत्यक्ष होता है किन्तु पृथिवी जो कि गुणी अर्थात् इन गुणों का आधार है उसका प्रत्यक्ष तो आत्मायुक्त मन से किया जाता है । इसी प्रकार इस प्रत्यक्ष सृष्टि में रचना-विशेष आदि और ज्ञान आदि गुणों के प्रत्यक्ष होने से परमेश्वर का भी प्रत्यक्ष होता है ।

२—जब आत्मा "मन" को और मन "इन्द्रियों" को किसी विषय में लगाता वा जिस क्षण में चोरी आदि बुरी या परोपकार आदि अच्छी बात का करना आरम्भ करता है, उसी क्षण में आत्मा के भीतर बुरे काम के करने में "भय-शंका-और-लज्जा" तथा अच्छे काम के करने में "अभय-निःशंकता-और-आनन्दोत्साह" उठता है । यह जीवात्मा की ओर से नहीं, अपितु परमात्मा की ओर से उठता है । इससे भी परमात्मा की सत्ता प्रतीत होती है ।

३—इसी प्रकार जीवात्मा शुद्ध होकर जब परमात्मा के विचार करने में तत्पर रहता है तब उसको उसी समय दोनों प्रत्यक्ष हो जाते हैं, अर्थात् जीव और परमात्मा दोनों । परमात्मा की सत्ता में यह तीसरा प्रमाण है ।

४—इसी प्रकार परमात्मा का भान अनुमान, प्रमाण तथा तथा वेदादि सत्यशास्त्रों द्वारा भी होता है । अनुमान, प्रमाण, जैसे कि किसी पदार्थ को देखकर दो प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है । एक जैसा यह पदार्थ है उसका, और दूसरा उसमें रचनाविशेष को देखकर उसके बनाने वाले का । जैसे किसी पुरुष ने कोई सुन्दर आभूषण जंगल में पाया तो विदित हुआ कि यह सुवर्ण का है और किसी बुद्धिमान् कारीगर ने इसे

बनाया है। इसी प्रकार नाना प्रकार की रचनावाली सृष्टि भी अपने बनाने वाले परमेश्वर को सिद्ध करती है।

**ईश्वर की व्यापकता**

ईश्वर व्यापक है, वह किसी देश विशेष में ही नहीं रहता। क्योंकि यदि एक देश में रहता तो वह सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वनियन्ता, सब का स्रष्टा, सब का धर्ता नहीं बन सकता। यतः अप्राप्त देश में कर्त्ता की क्रिया का होना असम्भव है।

**ईश्वर दयालु और न्यायकारी है**

प्रश्न उत्पन्न होता है कि ईश्वर दयालु और साथ ही न्यायकारी कैसे हो सकता है ? क्योंकि ये दोनों गुण परस्पर विरुद्ध हैं। जो न्याय करे तो दया और दया करे तो न्याय छूट जाता है। क्योंकि न्याय का अभिप्राय है "कर्मों के अनुसार सुख:दु:ख पहुँचाना.न अधिक और न न्यून" और दया का अभिप्राय है "अपराधी को बिना दण्ड दिये छोड़ देना"। इसका उत्तर यह है कि न्याय और दया में नाममात्र ही भेद है। क्योंकि जो प्रयोजन न्याय से सिद्ध होता है,वही दया से भी होता है। दण्ड देने का प्रयोजन यह है कि "मनुष्य अपराध करने से हटकर दु:खों को प्राप्त न हो" तथा दया का प्रयोजन है "पराये दु:खों का छुड़ाना"। जैसा अर्थ दया और न्याय का प्रश्न में किया गया है, वह ठीक नहीं क्योंकि जिसने जैसा और जितना बुरा कर्म किया हो उसको वैसा और उतना ही दण्ड देना चाहिये—यही न्याय है। यदि अपराधी को दण्ड न दिया जाय तो दया का नाश हो जायगा। क्योंकि एक अपराधी डाकू को छोड़ देना मानो सहस्रों धर्मात्मा पुरुषों को दु:ख देना है। जब एक के छोड़ देने से सहस्रों पुरुषों को दु:ख प्राप्त होता है, तो वह दया किस प्रकार की ? डाकू पर दया यही है कि उसे कारागार में रख कर उसे पाप करने

से बचाया जाय। तथा उस डाकू को मार देना अन्य सहस्रों मनुष्यों पर दया प्रकाशित करना है। देखो! ईश्वर की पूर्ण दया तो यह है कि उसने सब जीवों के प्रयोजन सिद्ध होने के अर्थ, जगत् में सकल पदार्थ उत्पन्न करके दान दे रखे हैं। इस से भिन्न दूसरी बड़ी दया कौनसी है? और न्याय का फल तो प्रत्यक्ष ही दीख रहा है। क्योंकि सुख-दुःख की व्यवस्था अधिकता और न्यूनता से फल प्रकट कर रही हैं। दया और न्याय में इतना ही भेद है कि मन में सब के सुखी होने तथा दुःखों से छूट जाने की जो इच्छा और क्रिया करना है वह तो दया है. और बाह्यचेष्टा अर्थात् जो बन्धन, छेदन आदि यथावत् दण्ड देना है, वह न्याय है। दोनों का एक ही प्रयोजन है और वह यह कि सब को पाप और दुःखों से पृथक् कर देना।

**ईश्वर की निराकारता**

ईश्वर निराकार है। क्योंकि यदि साकार होता तो व्यापक न होता। जब व्यापक न होता तो सर्वज्ञत्वादि गुण भी ईश्वर में न घट सकते। क्योंकि परिमित वस्तु में गुण-कर्म-स्वभाव भी परिमित रहते हैं। तथा ईश्वर यदि साकार हो तो उसके नाक, कान और आँख आदि अवयव होने चाहियें, और उन अवयवों का बनाने वाला उस से भिन्न कोई दूसरा चेतन होना चाहिये। क्योंकि जो कोई संयोग से उत्पन्न होता है उसे संयुक्त करने वाला कोई निराकार चेतन अवश्य होता है। अतः सिद्ध हुआ कि ईश्वर निराकार है।

**ईश्वर सर्वशक्तिमान है**

ईश्वर सर्वशक्तिमान् है! क्योंकि वह अपने कामों अर्थात् सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय आदि करने, तथा जीवों के पुण्य-पाप की यथायोग्य व्यवस्था करने में, किसी की सहायता थोड़ी भी,

नहीं लेता। अर्थात् अपने अनन्त सामर्थ्य से ही वह अपना सब काम पूर्ण कर लेता है।

ईश्वर अवतार नहीं लेता

वेदों में परमात्मा को "अज, अकाय तथा अस्नाविर" कहा है। अज का अर्थ है जिसका जन्म नहीं होता। अकाय का अर्थ है जिसका कोई काय या देह नहीं और अस्नाविर का अर्थ है जिसके कि स्नावा अर्थात् नस-नाड़ी नहीं हैं। इन तीन शब्दों से प्रतीत होता है कि वैदिक सिद्धान्त में परमात्मा का जन्म अर्थात् शरीर होना असम्भव है। जब जन्म और शरीर ही नहीं तो उसका आकार कैसे बन सकता है? साथ ही परमात्मा के अनन्त तथा सर्वव्यापक होने से उसका गर्भ या शरीर में आना तथा शरीर छोड़ कर जाना कभी सिद्ध नहीं हो सकता। आना तथा जाना वहाँ हो सकता है जहां कि वह वस्तु न हो। क्या ईश्वर गर्भ में व्यापक नहीं था जो कहीं से आया? और क्या वह बाहर नहीं था जो भीतर से निकला? इसलिये परमेश्वर का आना तथा जाना अर्थात् जन्म तथा मरण नहीं हो सकता। इसलिये राम और कृष्ण आदि ईश्वर के अवतार नहीं थे। अपितु राग, द्वेष, क्षुधा, तृषा, भय, शोक, दुःख, सुख, जन्म और मरण आदि गुणों से मुक्त होने के कारण वे मनुष्य ही थे।

ईश्वर पाप क्षमा नहीं करता

ईसाई और मुसलमान लोग मानते हैं कि ईसा पर विश्वास लाने या तोबा करने से परमात्मा उनके पापों को क्षमा कर देता है। परन्तु यह बात ठीक नहीं। क्योंकि परमात्मा यदि पाप क्षमा करे तो उसका न्याय नष्ट हो जाय, और सब मनुष्य महापापी हो जाँय। क्योंकि क्षमा की आशा से पापी पाप करने में निर्भयता और उत्साह अनुभव करेंगे। इसलिये सब कर्मों का

यथावत् फल देना ही ईश्वर का काम है, क्षमा करना नहीं।

**ईश्वर में इच्छा है या नहीं?**

जैसी इच्छा जीव में है वैसी ईश्वर में नहीं। क्योंकि इच्छा उस वस्तु की होती है जो अप्राप्त हो, उत्तम हो तथा जिसकी प्राप्ति से सुख विशेष हो। ईश्वर को कोई वस्तु अप्राप्त नहीं और न कोई उससे उत्तम है, तथा ईश्वर के पूर्ण सुखयुक्त होने से उसे सुख की अभिलाषा नहीं है। इसलिये ईश्वर में इच्छा की सम्भावना नहीं।

**जीव स्वतन्त्र है या परतन्त्र?**

अपने कर्तव्य कर्मों में जीव स्वतन्त्र है, और ईश्वर की व्यवस्था में वह परतन्त्र है। जिसके आधीन शरीर, प्राण, इन्द्रियें और अन्तःकरण आदि हों उसे स्वतन्त्र कहते हैं। जीव यदि स्वतन्त्र न हो तो उसे पाप-पुण्य का फल कभी प्राप्त नहीं हो सकता। जैसे सेना-पुरुष सेनाध्यक्ष की आज्ञा अथवा प्रेरणा द्वारा युद्ध में अनेक पुरुषों को मार कर अपराधी नहीं होते वैसे ही जीव यदि परमात्मा की प्रेरणा से वा उसकी आधीनता में सब कार्य करे तो जीव को पाप व पुण्य नहीं लगना चाहिये। इसमें दूसरा दृष्टान्त यह है कि मानो किसी मनुष्य ने शस्त्रविशेष से किसी को मार डाला तो वही मारनेवाला ही पकड़ा जाता है, और वही उसका दण्ड भी पाता है, शस्त्र नहीं। इसलिये अपने सामर्थ्यानुकूल कर्म करने में जीव स्वतन्त्र है, परन्तु जब वह कर्म कर चुका तो परमात्मा की व्यवस्थानुसार उसके फल भोगने में वह परतन्त्र है।

जीव और ईश्वर दोनों चेतन हैं, दोनों का स्वभाव पवित्र है, दोनों अविनाशी हैं तथा धार्मिकता आदि

जीव और ईश्वर गुणों से मुक्त हैं। परन्तु इनमें परस्पर भेद भी हैं।
का स्वरूप यथा—

१—सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करना, सबको नियम में रखना, तथा जीवों को पाप-पुण्य के फल देना आदि धर्मयुक्त कर्म परमेश्वर के हैं। तथा जीव के सन्तानोत्पत्ति, उनका पालन-पोषण तथा शिल्प-विद्या आदि अच्छे और बुरे कर्म हैं।

२—ईश्वर के नित्य ज्ञान, आनन्द और अनन्त बल आदि गुण हैं। तथा जीव के इच्छा, द्वेष, सुख तथा दुःख आदि गुण हैं।

३—जीव अल्प परिमाणी तथा अल्पज्ञ है और ब्रह्म सर्वव्यापक तथा सर्वज्ञ है।

४—ब्रह्म नित्यशुद्ध, नित्यबुद्ध, और नित्यमुक्त स्वभाव है। तथा जीव कभी बद्ध होता और कभी मुक्त होता है।

५—ब्रह्म सर्वव्यापक और सर्वज्ञ होने से उसे कभी भ्रम वा अविद्या नहीं हो सकती, परन्तु जीव को कभी तो विद्या और कभी अविद्या होती है।

६—ब्रह्म जन्म मरण के दुःख को कभी प्राप्त नहीं होता और जीव प्राप्त होता है।

जिस स्थान में एक वस्तु होती है उस स्थान में दूसरी वस्तु नहीं रह सकती। इसलिये जहाँ
जीव और ईश्वर का जीव है वहाँ ईश्वर की सत्ता कैसे हो सकती
परस्पर सम्बन्ध है? इसका उत्तर यह है कि यह नियम समान आकार वाले पदार्थों में घट सकता है, असमान अकार वाले पदार्थों में नहीं। जैसे लोहा स्थूल और अग्नि सूक्ष्म होती है, इसलिये लोहे में विद्युत्रूपी अग्नि व्यापक हो कर रहती है। इसी प्रकार चूँकि जीव परमेश्वर से स्थूल

और परमेश्वर जीव से सूक्ष्म है इसलिये परमेश्वर व्यापक है, और जीव व्याप्य । अत: ये दोनों एक ही अवकाश में रह सकते हैं ।

**ईश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना**

स्तुति आदि के करने से ईश्वर यद्यपि अपना नियम छोड़कर स्तुति, प्रार्थना और उपासना के करने वाले का पाप स्वयं नहीं छुड़ा देता तो भी इनसे यह लाभ अवश्य होता है कि स्तुति से ईश्वर में प्रीति उत्पन्न होती है और स्तुति करने वाला ईश्वर के आदर्श गुण-कर्म-स्वभाव से अपने गुण-कर्म स्वभाव को सुधार सकता है ।

इसी प्रकार प्रार्थना से निरभिमानता होती है, उत्साह प्राप्त होता है और परमात्मा को सहायता मिलती है ।

उपासना द्वारा परब्रह्म से मेल और उसका साक्षात्कार होता है ।

स्तुति दो प्रकार की है । एक सगुण और दूसरी निर्गुण ।

**स्तुति के दो प्रकार**

तू शुद्ध है, सर्वज्ञ है, अन्तर्यामी है, सनातन है, स्वयं सिद्ध है—इस प्रकार की स्तुति सगुण स्तुति कहलाती है । क्योंकि इस प्रकार की स्तुति में परमात्मा के उन २ गुणों का वर्णन किया जाता है जिन गुणों के साथ कि परमात्मा विद्यमान् है । तू शरीररहित है, मृत्युरहित है, पाप से विद्ध नहीं है, आकाररहित है—इस प्रकार की स्तुति निर्गुण स्तुति कहलाती है । क्योंकि इस प्रकार की स्तुति में शरीर, मृत्यु, पाप और आकार आदि गुणों से परमेश्वर को पृथक् मानकर उसकी स्तुति की जाती है । स्तुति करने वाले को चाहिये कि वह अपने गुण-कर्म-स्वभाव को भी परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव के सदृश बनाने का यत्न करता रहे । यदि वह भाँड के समान ही परमात्मा के गुण कीर्त्तन करता

जाएगा और अपने चरित्र को न सुधारेगा तो उसका स्तुति करना व्यर्थ है।

**प्रार्थना के दो प्रकार**

प्रार्थना भी निर्गुण और सगुण रूप से दो प्रकार की होती है। परमेश्वर को भक्त जिस दोष या दुर्गुण से पृथक् जानता है उससे अपने आप को भी पृथक् रखने की प्रार्थना निर्गुणप्रार्थना कहलाती है, और परमात्मा को वह जिस सद्गुण से युक्त जानता है उस सद्गुण से अपने आपको भी युक्त करने की प्रार्थना को सगुणप्रार्थना कहते हैं।

**प्रार्थना और यत्न**

जो मनुष्य जिस बात की प्रार्थना करता है, उसे वैसा व्यवहार भी करना चाहिये। जैसे कोई सर्वोत्तम बुद्धि की प्राप्ति के लिये परमात्मा से प्रार्थना करता है तो उसे चाहिये कि वह जितना अपने से प्रयत्न हो सके अपनी बुद्धि को सर्वोत्तम बनाता भी रहे। अर्थात् अपने पुरुषार्थ के उपरान्त परमेश्वर से प्रार्थना करना उचित है। जैसे पुरुषार्थ करते हुए पुरुष की सहायता दूसरा भी करता है वैसे धर्म से पुरुषार्थी पुरुष की सहायता ईश्वर भी करता है। जो कोई ‘गुण मीठा है” ऐसा कहता है उसको कहने मात्र से गुण या उसका स्वाद कभी प्राप्त नहीं होता, और जो उसके लिये यत्न करता है उसको शीघ्र या विलम्ब से गुण मिल ही जाता है। साथ ही परमात्मा से ऐसी भी प्रार्थना न करनी चाहिये कि हे परमेश्वर! आप मेरे शत्रुओं का नाश करो, मुझको सब से बड़ा करो, मेरी ही प्रतिष्ठा हो और मेरे आधीन सब हो जायें, इत्यादि। ऐसी प्रार्थना परमात्मा स्वीकार नहीं करता। क्योंकि परमात्मा उपकार करने की प्रार्थना में तो सहायक होता है, हानिकारक कर्मों में नहीं।

उपासना भी दो प्रकार की है, सगुण और निर्गुण। सर्वज्ञ-

इत्यादि गुणों के साथ परमेश्वर की उपासना करनी सगुणोपासना है, और द्वेष, रूप, रस, गन्ध, तथा स्पर्श आदि गुणों से परमेश्वर को पृथक् मानकर उसमें दृढ़स्थित हो जाना निर्गुणोपासना है। उपासना का अर्थ है—"समीप स्थित होना"। अष्टांगयोग द्वारा जीव परमात्मा के समीपस्थ हो जाता है। जब उपासना करना चाहे तब एकान्त शुद्ध देश में जाकर आसन लगा, प्राणायाम कर, बाह्य विषयों से इन्द्रियों को रोक, मन को नाभि प्रदेश वा हृदय, कण्ठ, नेत्र और शिखा में अथवा पीठ की हड्डी के मध्यस्थान में स्थित कर, अपने आत्मा और परमात्मा का विवेचन करके परमात्मा में मग्न हो जाए। इस प्रकार इसका आत्मा और अन्तःकरण पवित्र होकर सत्य से पूर्ण हो जाता है, और वह नित्यप्रति ज्ञान विज्ञान बढ़ाकर मुक्ति तक पहुँच जाता है। जो आठ प्रहर में एक घड़ी-भर इस प्रकार ध्यान करता है वह सदा उन्नति को प्राप्त होता है।

उपासना के दो प्रकार

उपासना का फल यह है कि जैसे शीत से आतुर पुरुष का शीत अग्नि के पास जाने से निवृत्त हो जाता है वैसे ईश्वर के समीप स्थित होने से जीव के सब दोष दुःख छूट जाते हैं और जीव परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव के सदृश पवित्र गुण-कर्म-स्वभाव हो जाता है। साथ ही आत्मा का बल इतना बढ़ जाता है कि पर्वत के समान दुःख प्राप्त होने पर भी मनुष्य घबराता नहीं। तथा जो परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना नहीं करता वह कृतघ्न और महा-मूर्ख भी है। क्योंकि जिस परमात्मा ने इस जगत् के सब पदार्थ हमारे सुखों के लिये दे रखे हैं उसका गुण और उपकार भूल जाना ईश्वर ही को न मानने के समान है। यही कृतघ्नता और मूर्खता है।

उपासना का फल

उपासना की तय्यारी या प्रारम्भ यमों और नियमों से होता

उपासना की तय्यारी

है। यमों के सम्बन्ध में योगदर्शन का निम्न-लिखित सूत्र है। यथा:—

अहिंसा सत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः ॥

योगदर्शन, साधनपाद, सू.३० ॥

अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह-ये पाँच यम हैं। इनका अभिप्राय निम्नलिखित है। यथा :—

१ अहिंसा—किसी से वैर न रखना, सर्वदा सब से प्रीति करना।

२ सत्य—सत्य बोलना, मिथ्या कभी न बोलना।

३ अस्तेय—चोरी न करना, सत्य व्यवहार करना।

४ ब्रह्मचर्य—जितेन्द्रिय होना, लम्पट न होना।

५ अपरिग्रह—निरभिमानी होना, अभिमान कभी न करना।

इसी प्रकार नियमों के सम्बन्ध में योगदर्शन का सूत्र निम्न-लिखित है। यथा :—

शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥

योगदर्शन, साधनपाद सू० ३२ ॥

अर्थात् शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, और ईश्वरप्रणिधान ये पाँच नियम हैं। इनका अभिप्राय निम्नलिखित हैं, यथा:—

१ शौच—राग और द्वेष छोड़ भीतर मन और आत्मा को तथा जल आदि से बाहरी शरीर को पवित्र रखना।

२ सन्तोष—धर्म से पुरुषार्थ करते हुए लाभ में न प्रसन्नता करनी और हानि में न अप्रसन्नता।

३ तप—प्रसन्न होकर और आलस्य छोड़ कर सदा पुरुषार्थ करना। सुख दुःखों का सदा सहन तथा धर्म ही का अनुष्ठान करना, अधर्म का नहीं।

४ स्वाध्याय—सर्वदा सत्यशास्त्रों का पढ़ना पढ़ाना।

५ ईश्वरप्रणिधान—अपने आप को परमेश्वर की आज्ञानु-

फूल समर्पित कर देना।

इन यमों का तथा नियमों का साथ २ अभ्यास करना चाहिये। इनके अभ्यास से उपासना प्रारम्भ होती है।

## (२) वेद विषय

चारों वेदों का कर्त्ता

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद—इन चारों वेदों का कर्त्ता ईश्वर है। अथर्ववेद के १० वें काण्ड में निम्नलिखित मन्त्र पढ़ा गया है जिससे उपरोक्त कथन की साक्षी मिलती है। यथा:—

**यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्।**
**सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम्।**
**स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥** अथर्व० १०।७।२०॥

इसका अर्थ यह है कि जिससे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद प्रकट हुआ है वह स्कम्भ है, अर्थात् सब संसार का आधार है। कई लोग कहते हैं कि वेदों में हर एक सूक्त के आरम्भ में जो ऋषि लिखे रहते हैं उन्होंने ही वे २ सूक्त बनाए हैं। परन्तु यह ठीक नहीं है। क्योंकि वे ऋषि मन्त्रों के बनाने वाले नहीं अपितु उन २ सूक्तों तथा मन्त्रों के अर्थों के द्रष्टा हैं।

वेदों के उपदेश का प्रकार

परमेश्वर निराकार है। उसका कोई मुख नहीं। तो विना मुख उसने वेद के वर्णों का उच्चारण कैसे किया? क्योंकि वर्णों के उच्चारण में तालु आदि स्थान, तथा जिह्वा का प्रयत्न आवश्यक है। इसका उत्तर यह है कि परमेश्वर सर्वशक्तिमान् तथा सर्वव्यापक है। इसलिये जीवों को वेदविद्या का उपदेश देने में उसे मुख आदि अवयवों की कोई आवश्यकता नहीं। परमेश्वर सर्वव्यापक है, वह जीवों के भीतर

भी अन्तर्यामी रूप से स्थित है। अतः वह अखिल वेदविद्या का उपदेश, जीव में स्थित होने के कारण, बिना मुख द्वारा बोले, जीवात्मा में प्रकाशित कर देता है।

परमात्मा ने सृष्टि के आरम्भ में चार ऋषियों द्वारा चार वेद प्रकट किये। अग्नि द्वारा ऋग्वेद, वायु द्वारा यजुर्वेद, सूर्य द्वारा सामवेद तथा अङ्गिरा द्वारा अथर्ववेद उसने प्रकट किया। चूँकि ये ही चार ऋषि सब जीवों से अधिक पवित्रात्मा थे इसलिये पवित्र विद्या का प्रकाश भी इन्हीं चारों के द्वारा हुआ।

वेदों की आवश्यकता

प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि वेदों की ईश्वर से उत्पन्न होने की आवश्यकता ही क्या है? क्योंकि मनुष्य क्रमशः ज्ञान बढ़ाते २ पश्चात् पुस्तक रचना भी कर ही लेंगे? इसका उत्तर यह है कि बिना ईश्वरीय ज्ञान की सहायता के मनुष्य कभी पुस्तक रचना नहीं कर सकते। क्योंकि जंगली मनुष्य सृष्टि को देखकर भी स्वयं विद्वान् नहीं होते और शिक्षक के मिल जाने पर वे भी विद्वान् हो जाते हैं। तथा यह भी हम देखते हैं कि वर्त्तमान काल में भी किसी से बिना पढ़े कोई विद्वान् नहीं होता। इसलिये परमात्मा यदि आदि सृष्टि के ऋषियों को वेदविद्या न देता और वे ऋषि अन्यों को यदि न पढ़ाते तो सब लोग अविद्वान ही रह जाते। किसी बालक को यदि जन्म से ही एकान्त देश में या अविद्वानों वा पशुओं के सङ्ग रख दिया जाय तो वह जैसा कि सङ्ग होगा वैसा ही हो जायगा। इसका दृष्टान्त जङ्गली भील आदि हैं। जब तक आर्यावर्त देश से बाहर शिक्षा नहीं गयी तब तक मिश्र, यूनान तथा युरोप आदि देशों के मनुष्यों में कुछ भी विद्या न थी। इसी प्रकार से कोलम्बस आदि पुरुष अमेरिका में जब तक नहीं गये थे तब तक वहाँ के निवासी भी सहस्रों, लाखों और

करोड़ों वर्षों से मूर्ख अर्थात् विद्याहीन ही चले आते थे और पुनः सुशिक्षा पाने से वे भी विद्वान् हो गये हैं। इससे समझना चाहिये कि सृष्टि के आदि में परमात्मा से विद्या और सुशिक्षा पाकर ही मनुष्य उत्तरोत्तर काल में विद्वान् होते चले जा रहे हैं।

# अष्टम समुल्लास

## सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय

जगत् की पूर्वावस्था

यह सब जगत् उत्पत्ति से पूर्व अर्थात् प्रलयावस्था में अन्धकार से आवृत था; उस समय न पृथिवी थी, न आकाश और न द्युलोक। सूर्यादि कोई भी पदार्थ उस समय न था जो प्रकाश करता तथा जो कि प्रकाशित होता। मनुष्य, पशु, पक्षी तथा कीट पतङ्ग और वृक्षादि—ये सब प्राणी-जगत् भी उस समय न था। उस समय केवल तीन ही पदार्थ थे। एक प्रकृति, दूसरा जीव, तथा तीसरा ब्रह्म। प्रलय में भी ये तीनों पदार्थ विद्यमान थे चूँकि ये अनादि और अनन्त हैं अर्थात् न उत्पन्न हुए और न नष्ट होते हैं। इसमें प्रमाण निम्नलिखित मन्त्र है। यथा:—

**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।**
**तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥**

ऋग्वेद, १।१६४।२०॥

इस मन्त्र में दो सुपर्णों द्वारा जीव और ब्रह्म का वर्णन किया है और वृक्ष द्वारा प्रकृति का।

जगत् की उत्पत्ति के कारण

जगत् की उत्पत्ति के तीन कारण हैं। एक निमित्त कारण, दूसरा उपादान कारण और तीसरा साधारण कारण। निमित्त कारण उसे कहते हैं जिसके कि बनाने से कुछ बने, न

बनाने से न बने, तथा आप स्वयं बने नहीं और दूसरे को प्रकारान्तर बना देवे। यह निमित्त कारण दो प्रकार का होता है, एक मुख्य और दूसरा गौण। सृष्टि को कारण से बनाने, उसकी स्थिति तथा प्रलय करने, और उस सब की व्यवस्था रखने वाला मुख्य निमित्तकारण परमात्मा है। तथा सृष्टि में से पदार्थों को लेकर अनेकविध कार्यान्तर बनाने वाला गौण निमित्त-कारण जीव है। दूसरा कारण उपादान कारण है। उपादानकारण उसे कहते हैं जिसके कि बिना कुछ न बने तथा वही अवस्थान्तर होकर बिगड़े और बने। जगत् का उपादानकारण प्रकृति है। इसे संसार के बनाने की सामग्री कहते हैं। यह जड़ होने से आप न संसार रूप में परिणत हो सकती है और न संसार रूप से प्रलय रूप में आ सकती है। किन्तु परमात्मा के प्रयत्न द्वारा ही यह इन कार्यों को करती है। कहीं २ जड़ से जड़ बन और बिगड़ भी जाते हैं। जैसे परमेश्वर के रचित बीज पृथिवी में गिरने और जल पाने से वृक्षाकार हो जाते हैं और अग्नि आदि जड़ पदार्थ के संयोग से बिगड़ भी जाते हैं। परन्तु उनका नियमपूर्वक बनना वा बिगड़ना परमेश्वर और जीव के ही आधीन है।

जगत् की उत्पत्ति में तीसरा कारण है—साधारणकारण। साधारणकारण उसे कहते हैं जो कि बनाने में साधन और साधारण निमित्त हो। जगत् के बनाने में परमात्तमा का ज्ञान, दर्शन और बल तथा दिशा, काल और आकाशादि—ये सब साधन तथा साधारण निमित्तकारण हैं।

परमात्मा और जगत् में भेद

कई लोग कहते हैं कि यह जगत् परमात्मा से बना है जैसे कि घड़ा मट्टी से बनता है। परन्तु यह बात ठीक नहीं। क्योंकि घड़ा मट्टी से बनता है तो घड़े में मट्टी के गुण-धर्म भी आजाते हैं। इसी कारण जगत् यदि पर-

मात्मा का विकार होता तो जगत् में भी परमात्मा के गुण-धर्म होते। जगत् में परमात्मा के गुण-धर्म नहीं हैं, इसे दर्शाने के लिये यहाँ जगत और परमात्मा के गुणों की तुलना की जाती है। यथा :—

१—परमात्मा सत्, चित्, और आनन्दस्वरूप है, परन्तु जगत् कार्यरूप से असत् अर्थात् सदा न रहने वाला, जड़ और आनन्दरहित है।

२—परमात्मा अज अर्थात् उत्पन्न नहीं होता और जगत् उत्पन्न हुआ है।

३—परमात्मा अदृश्य है और जगत् दृश्य।

४—परमात्मा अखण्ड है और जगत् के खण्ड हो सकते हैं।

५—परमात्मा विभु है और जगत् परिछिन्न।

जगत् के बनाने में परमेश्वर का प्रयोजन

जगत् की रचना में परमात्मा के निम्नलिखित प्रयोजन हैं। यथा:—

१—परमात्मा यदि जगत् की रचना न करता तो जीव प्रलय में निश्चेष्ट पड़े रहते और जगत् के सुखों से वञ्चित रहते।

२—जगत् के होने से ही बहुत से पवित्रात्मा जीव मुक्ति के साधनों का अनुष्ठान कर मोक्ष के आनन्द को प्राप्त होते हैं। जगत् के न बनने पर वे भी प्रलय में निकम्मे तथा सुषुप्ति की सी अवस्था में पड़े रहते।

३—पूर्व सृष्टि में किये पाप-पुण्यों के फल, जीवों को, परमात्मा बिना जगत् के रचे कैसे दे सकता?

४—तथा यदि कोई पूछे कि आँख के होने का क्या प्रयोजन है तो इसका उत्तर यही दिया जायगा कि "देखना"। क्योंकि इसी प्रकार आँख में देखने का जो सामर्थ्य है वह सफल होता है। इसी प्रकार ईश्वर में भी जगत् के रचने का विज्ञान, बल और क्रिया

स्वाभाविक हैं। वे गुण तभी सफल हो सकते हैं जब कि वह जगत् की रचना करे, अन्यथा किसी प्रकार से वे गुण सफल नहीं हो सकते।

५—इसी प्रकार परमात्मा के स्वाभाविक गुण अर्थात् न्याय, दया, वात्सल्य तथा परोपकार आदि भी, जगत् की रचना करने पर ही सफल होते हैं, अन्यथा नहीं।

जगत् के उत्पादन के लिये ईश्वर को साकार मानने की कोई आवश्यकता नहीं। यदि ईश्वर साकार होता तो निराकार ईश्वर से वह जगत् का निर्माण ही न कर सकता। जैसे तुम और हम साकार हैं अर्थात शरीरधारी हैं। इसीलिये अणु, परमाणु और प्रकृति को अपने वश में नहीं ला सकते। वैसे ही स्थूल देहधारी परमेश्वर भी उन सूक्ष्म पदार्थों से स्थूल जगत् न बना सकता। इसलिये परमेश्वर अपनी अनन्त शक्ति, बल और पराक्रम द्वारा सब कार्य करता है जो कि जीव और प्रकृति से कभी हो नहीं सकते। चूँकि देहधारी न होने से परमात्मा प्रकृति से भी सूक्ष्म और उसमें व्यापक है अतः वह प्रकृति को पकड़ कर जगदाकार कर देता है। जो साकार अर्थात् शरीरयुक्त होता तो यह ईश्वर ही न होता। क्योंकि शरीरधारी परिमित शक्तिवाला, देशकाल से परिच्छन्न, क्षुधा, तृष्णा, शीतोष्ण, ज्वर तथा पीड़ा आदि से सदा युक्त रहता है और जो इनसे युक्त है वह ईश्वर कैसा ? इसलिये परमेश्वर शरीर धारण नहीं करता अर्थात् वह निराकार ही जगत् के निर्माण का सामर्थ्य रखता है।

जगत् की उत्पत्ति

प्रश्न उत्पन्न होता है कि जगत्कर्त्ता ईश्वर के मानने की आवश्यकता ही क्या है? क्योंकि यह जगत् अनादि काल से जैसा के तैसा है, न कभी इसकी उत्पत्ति हुई और न कभी विनाश होगा। जब जगत् की उत्पत्ति और विनाश ही नहीं तो

ईश्वर की आवश्यकता

जगत् के उत्पादक और प्रलयकर्त्ता के मानने की आवश्यकता ही क्या है ? इसका उत्तर यह है कि पृथिवी आदि पदार्थों में, चूँकि, संयोग विशेष से रचना दीखती है अतः ये पदार्थ अनादि नहीं हो सकते। तथा जो पदार्थ संयोग से बनता है वह संयोग के पूर्व नहीं होता और वियोग के अन्त में रहता भी नहीं—ऐसा अवश्य मानना होगा। इसमें प्रमाण के लिये कि पृथिवी आदि पदार्थ संयोग से बने हैं कठिन से कठिन पत्थर, हीरे या फौलाद के एक टुकड़े को लो और इसे तोड़कर, भस्म कर, या गला कर देखो कि इनमें अवयव पृथक् २ मिले हैं या नहीं ? यदि मिले हैं तो ये पदार्थ संयोग से उत्पन्न हुए हैं—ऐसा मानना ही होगा। इस प्रकार पृथिवी आदि पदार्थ जब अनादि और अनन्त सिद्ध न हुए तो इनकी उत्पत्ति तथा प्रलय के लिये किसी चेतनकर्त्ता का मानना भी आवश्यक हो जाता है, और वह चेतनकर्त्ता ईश्वर ही है।

कल्पान्तर में सृष्टि एक जैसी ही उत्पन्न होती है

यह सृष्टि जैसी कि अब है वैसी ही पहिले थी और आगे भी होगी। इसमें भेद नहीं होता। इस सम्बन्ध में प्रमाण निम्नलिखित है। यथाः—

**सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।**
**दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः।** ऋ० १०।१९०।३॥

इसका अभिप्राय यह है कि परमेश्वर ने जैसे पूर्व कल्प में सूर्य, चन्द्र विद्युत, पृथिवी तथा अन्तरिक्ष आदि बनाए थे, वैसे ही उसने अब भी बनाए हैं और आगे भी ऐसे ही बनाएगा। क्योंकि परमेश्वर सर्वज्ञ है, उसके काम, विना भूल-चूक के होने से सदा एक से ही हुआ करते हैं। और जो अल्पज्ञ है अर्थात् जिसके ज्ञान में वृद्धि तथा क्षय होता रहता है उसी के कामों में भूलचूक होती है, ईश्वर के काम में नहीं। अतः सृष्टि प्रवाह से

अनादि है अर्थात् सदा एक-सी ही रहती है।

सृष्टि प्रवाह से अनादि है

इस सृष्टि का न तो कभी आरम्भ हुआ, और न कभी अन्त होगा। जैसे दिन के पूर्व रात और रात के पूर्व दिन तथा दिन के पीछे रात और रात के पीछे दिन बराबर चला आता है, इसी प्रकार सृष्टि के पूर्व प्रलय और प्रलय के पूर्व सृष्टि तथा सृष्टि के पीछे प्रलय और प्रलय के पीछे सृष्टि—यह चक्र भी अनादि काल से चला आता है। इसका आदि और अन्त नहीं होता। परन्तु जैसे व्यक्ति-रूप में प्रत्येक दिन और रात का आदि और अन्त दृष्टिगोचर होता है परन्तु प्रवाहरूप से नहीं होता, इसी प्रकार प्रत्येक सृष्टि और प्रत्येक प्रलय का भी आदि और अन्त तो विद्यमान है परन्तु प्रवाहरूप से नहीं। प्रवाह के लिये नदी का दृष्टान्त बहुत उपयुक्त है। जैसे नदी का प्रवाह कभी सूख जाता तो नहीं दीखता, फिर बरसात में दीखता और उष्ण काल में नहीं दीखता—ऐसे व्यवहारों को प्रवाहरूप जानना चाहिये। जैसे परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव अनादि हैं वैसे ही उसका जगत् की उत्पत्ति स्थित तथा प्रलय करना भी अनादि है। जैसे ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव का कभी आरम्भ और अन्त नहीं इसी प्रकार उसके कर्त्तव्य कर्मों का भी कभी आरम्भ और अन्त नहीं होता।

मनुष्य-सृष्टि

प्रथम तो पृथिवी आदि की सृष्टि हुई और तत्पश्चात् मनुष्यों की। क्योंकि पृथिवी आदि की सृष्टि के बिना मनुष्य की स्थिति तथा उसका पालन-पोषण ही नहीं हो सकता। तथा सृष्टि के आदि में एक ही मनुष्य उत्पन्न न हुआ था, अपितु अनेक मनुष्य उत्पन्न हुए थे। जिन २ जीवों के कर्म इस प्रकार के थे कि वे सृष्टि के आदि में उत्पन्न हों उन्हें परमात्मा ने आदि में ही जन्म दिया।

सृष्टि में देखने से भी प्रतीत होता है कि मनुष्य अनेक मां-बाप की सन्तानें हैं, एक मा-बाप की नहीं।

साथ ही यह भी जानना चाहिये कि आरम्भ में जो मनुष्य उत्पन्न हुए वे युवावस्था के ही उत्पन्न हुए थे। क्योंकि यदि बालक उत्पन्न होते तो उनके पालन-पोषण के लिये दूसरे मनुष्य आवश्यक थे, और जो वृद्धावस्था में होते तो उनकी सन्तति आगे न चल सकती।

मनुष्य सृष्टि का आदिस्थान तथा आर्यावर्त

मनुष्यों की आदि सृष्टि त्रिविष्टप अर्थात् तिब्बत में हुई थी। कालान्तर में इन में आर्य और दस्यु दो भेद हो गये। श्रेष्ठ, विद्वान् तथा धर्मात्मा मनुष्यों को देव या आर्य कहा जाने लगा और दुष्ट, मूर्ख तथा अधर्मात्माओं को असुर या दस्यु। इन आर्यों और दस्युओं में प्रायः लड़ाई दंगा हुआ करता था। अन्ततः आर्यों ने भारत भूमि को भूगोल में से सर्वश्रेष्ठ भूखण्ड जानकर यहां अपना पदार्पण किया। इसीलिये इस भारत भूमि का नाम आर्यावर्त्त हुआ।

चन्द्र और तारा आदि में मनुष्य सृष्टि तथा वैदिक ज्ञान

जैसे इस पृथिवी लोक पर मनुष्य सृष्टि है वैसे चन्द्र और तारा आदि में भी मनुष्य सृष्टि है। इसीलिये वेदों में चन्द्र, तारा आदि को वसु कहा है। वसु का अर्थ है जिस में कि मनुष्य वसें। जब परमेश्वर का यह छोटा-सा पृथिवीलोक मनुष्यादि सृष्टि से भरा हुआ है तब तारा आदि सब लोक शून्य कैसे हो सकते हैं? परमेश्वर का कोई भी काम जब निष्प्रयोजन नहीं होता तो इतने असंख्य तारा आदि लोक, मनुष्यादि सृष्टि के विना सप्रयोजन कैसे हो सकते हैं? इसलिये सर्वत्र मनुष्यादि सृष्टि है। यह सम्भव है कि अन्य

लोकों में, इस पृथिवी लोक की अपेक्षा, मनुष्यादि सृष्टि के आकार तथा रूप रंग में कुछ भेद हो। जैसे इस लोक में भी चीन, भारत तथा युरोप आदि देशों में आकृति, रूप रंग तथा अवयव संनिवेश में थोड़ा बहुत भेद पाया जाता है इसी प्रकार लोकलोकान्तरों में भी भेद होते हैं। परन्तु जिस किसी जाति की जैसे सृष्टि इस लोक में है उस जाति की वैसी सृष्टि ही अन्य लोकों में भी है। अर्थात् इस लोक में जिस जाति के शरीर के जिस २ प्रदेश में जो २ नेत्रादि अंग हैं अन्य लोकों में भी उस २ जाति के शरीर के उसी २ प्रदेश में वे २ अंग होते हैं। इसी प्रकार जिन वेदों का इस लोक में प्रकाश है उन्हीं वेदों का अन्य लोकों में भी प्रकाश है। जैसे एक राजा की राज्यव्यवस्था की नीति उसके राज्य के सब देशों में समानरूप से होती है इसी प्रकार राजराजेश्वर परमात्मा की वेदोक्त नीति उसके सृष्टिरूप सब राज्य में एक-सी है।

**पृथिवी घूमती है**

वेदों का यह सिद्धान्त है कि पृथिवी सूर्य के चारों ओर घूमती है, सूर्य पृथिवी के चारों ओर नहीं घूमता। इसमें निम्नलिखित प्रमाण है। यथा :—

**आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः।**
**पितरं च प्रयन्त्स्वः॥ यजु० ३।६॥**

इसका अर्थ यह है कि यह पृथिवी जलसहित, सूर्य के चारों ओर घूमती है। इस मन्त्र में पृथिवी का नाम गौ आया है और गौ का अर्थ है घूमने वाली। पृथिवी का यह घूमना सूर्य की आकर्षण शक्ति के कारण है। वेदों के सिद्धान्त में सूर्य स्थिर भी है और गति भी करता है। सूर्य चूँकि पृथिवी के चारों ओर नहीं घूमता अतः वह स्थिर है, और चूँकि वह अपने केन्द्र के इरद-गिरद घूमता है, अतः वह गतिमान् भी है। क्योंकि कोई भी भारी

पदार्थ आकाश में बिना घूमे एक नियत स्थान पर स्थिर नहीं रह सकता ।

कोई कहता है कि शेष अर्थात् सहस्र फन वाले साँप के सिर पर पृथिवी खड़ी है और कोई कहता है कि बैल के सींग पर खड़ी है ।

**पृथिवी का धारण कौन करता है ?**

इसी प्रकार अन्य मतवादी भी भिन्न-भिन्न वस्तु को पृथिवी का आधार मानते हैं । परन्तु ये सब विचार भ्रमात्मक हैं । यदि साँप या बैल पर पृथिवी स्थिर है तो साँप और बैल के जन्म से पूर्व पृथिवी किस पर स्थिर थी ? तथा वह साँप और बैल स्वयं किस पर स्थिर हैं ? जो लोग शेष के फणों पर पृथिवी का स्थिर होना मानते हैं वे शेष के वास्तविक अर्थ को न जानकर भ्रम में पड़े हैं । शेष का वास्तविक अर्थ है परमात्मा, जो कि जगत् के प्रलय के पश्चात् भी शेष रहता है । इसी प्रकार :—

"उक्षा दाधार पृथिवीमुत द्याम्" ।। ऋग्वेद ।।

इस वचन में "उक्षा ने पृथिवी और द्युलोक का धारण किया हुआ है"—ऐसा कहा है । किसी ने इस मन्त्र में उक्षा शब्द देख बैल का अर्थ समझ लिया होगा । क्योंकि उक्षा का अर्थ बैल भी होता है । परन्तु इस मंत्र में उक्षा का अर्थ बैल नहीं, अपितु सूर्य है । सूर्य वर्षा द्वारा भूगोल का सेचन करता है अतः वह उक्षा है । सोचना चाहिये कि बैल में पृथिवीलोक और द्युलोक के धारण करने का सामर्थ्य कहाँ है । सूर्य ने तो अपने आकर्षण द्वारा पृथिवी का धारण किया हुआ है ? परन्तु पृथिवी और सूर्य आदि सब का धारण करने वाला अन्त में परमात्मा ही है । अन्त में परमात्मा ही पृथिवी और सूर्य आदि लोकों का धारण किये हुए है । इस सम्बन्ध में वेद का भी प्रमाण है । यथा :—

सदाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम् ॥ यजु० १३।४॥

अर्थात् उस परमात्मा ने ही पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक का धारण किया हुआ है।

# नवम समुल्लास

## विद्या, अविद्या, बन्ध और मोक्ष

विद्या और अविद्या

विद्या का अर्थ है सम्यक् ज्ञान अर्थात् यथार्थ ज्ञान और अविद्या का अर्थ है मिथ्याज्ञान अर्थात् अयथार्थ ज्ञान। योगदर्शन में अविद्या अर्थात् मिथ्याज्ञान के चार प्रकार दर्शाये हैं—

१—अनित्य को नित्य जानना। जैसे संसार की वस्तुओं और उनके भोग करने वाले शरीर को नित्य मानना। अर्थात् यह मानना कि ये वस्तुएँ सदा से हैं और सदा रहेंगी। अविद्या का यह प्रथम प्रकार है।

२—अशुचि अर्थात् अपवित्र वस्तुओं को शुचि अर्थात् पवित्र मानना। जैसे व्यभिचार, मिथ्याभाषण, चोरी आदि अपवित्र कामों को पवित्र मानना। अविद्या का यह दूसरा प्रकार है।

३—दुःख और दुःख के कारणों को सुख और सुख के कारण जानना। जैसे विषयभोग और विषयभोग के कारणों अर्थात् स्त्री आदि को—जो कि दुःखरूप तथा दुःख के कारणरूप हैं—सुखरूप तथा सुख के कारण रूप मानना। अविद्या का यह तीसरा प्रकार है।

४—अनात्म पदार्थों को आत्मा जानना। जैसे देह को आत्मा जानकर इसके सुखों को ही अन्तिम ध्येय मानना। अविद्या का यह चौथा प्रकार है।

इन चार प्रकार के ज्ञानों से विपरीत ज्ञान ही विद्या है। अर्थात् अनित्य पदार्थों में अनित्य ज्ञान और नित्य पदार्थों में नित्य ज्ञान, अपवित्र पदार्थों में अपवित्र ज्ञान और पवित्र पदार्थों में पवित्र ज्ञान, दुःख और दुःख के कारणों में दुःख और दुःख के कारणरूप का ज्ञान तथा वास्तविक सुख और सुख के कारणों में सुख और सुख के कारणरूप का ज्ञान, तथा अनात्म पदार्थों में अनात्म ज्ञान और वास्तविक आत्मा में आत्मज्ञान यह विद्या अर्थात् सत्यज्ञान है। इसे ही यथार्थज्ञान, तत्त्वज्ञान तथा सत्यज्ञान भी कहते हैं। अर्थात् पदार्थों के यथार्थ स्वरूप के ज्ञान को तो विद्या कहते हैं और उनके अयथार्थ स्वरूप के ज्ञान को अविद्या। कहीं २ कर्म और उपासना को भी अविद्या कहते हैं। इस सम्बन्ध में अविद्या का अर्थ मिथ्याज्ञान नहीं अपितु इसका अर्थ है "विद्या से भिन्न" ज्ञान। कर्म और उपासना विद्या से भिन्न हैं इसलिये इन दोनों को अविद्या कहते हैं। इसी अर्थ की दृष्टि से यजुर्वेद के एक मंत्र में यह प्रतिपादित किया है कि "विद्या और अविद्या दोनों का ज्ञान साथ २ चाहिये। इसका फल यह होता है कि अविद्या द्वारा मृत्यु का बंधन छूट जाता है और विद्या द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है।" वह मंत्र निम्नलिखित है। यथा :—

**विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँ सह।**
**अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।।** यजु० ४०।१४।।

**मुक्ति और बन्ध**

मुक्ति का अर्थ है—"छूट जाना।" प्रश्न उत्पन्न होता है कि किससे छूटना? उत्तर है कि दुःख से। इसलिए मुक्ति का वास्तविक अर्थ हुआ—"दुःख से छूट जाना"। अधर्म और अज्ञान अर्थात् अविद्या में फंसा हुआ जीव मुक्ति का अधिकारी नहीं होता। दुःखों और दुःखों के कारण अर्थात् शरीर

आदि से छूट कर जीव सुख को प्राप्त होता है और उस सुखावस्था में ब्रह्म में विचरा करता है।

**मुक्ति और बन्ध का कारण**

परमेश्वर की आज्ञा पालने, अधर्म, अविद्या, कुसंग, कुसंस्कार, तथा बुरे व्यसनों से अलग रहने, सत्यभाषण, परोपकार, विद्या, पक्षपात रहित, न्याय तथा धर्म की वृद्धि करने, परमेश्वर की स्तुति-प्रार्थना-उपासना अर्थात् योगाभ्यास करने, विद्या पढ़ने और पढ़ाने तथा धर्म से पुरुषार्थ कर ज्ञानोन्नति करने,—इत्यादि शुभ साधनों से मुक्ति होती है. और इनसे विपरीत साधनों अर्थात ईश्वर की आज्ञा का भंग करने आदि कामों से बन्ध होता है।

**मुक्त जीव की अवस्था, स्वर्ग तथा नरक**

जीव जब मुक्त हो जाता है तो उसका स्थूल शरीर नहीं रहता। तो भी वह सुख और आनन्द का अनुभव करता है। क्योंकि मुक्ति में भी उसके सत्य संकल्प आदि स्वाभाविक सामर्थ्य और गुण रहते हैं। उस समय केवल भौतिक संग नहीं रहता।

इन स्वाभाविक गुणों के कारण जैसा-जैसा वह चाहता है मुक्ति में भी सुन सकता है, छू सकता है, देख सकता है, स्वाद ले सकता है, सूंघ सकता है, संकल्प-विकल्प कर सकता है, निश्चय कर सकता है, तथा स्मरण कर सकता है। मुक्ति में *संकल्प ही जीव को शरीर का काम देता है और इस प्रकार वह सब आनन्दों का अनुभव कर सकता है।

मुक्तावस्था में वह जीव अनन्त व्यापक ब्रह्म में स्वछन्द घूमता, शुद्धज्ञान से सब सृष्टि को देखता, अन्य मुक्तों के साथ

---

*ऋषि दयानन्द जी के मत में सूक्ष्म शरीर भी मुक्ति में रहता है जो कि मुक्ति में आनन्द के अनुभव का साधन होता है।

मिलता तथा सृष्टि-विद्या को क्रम से देखता हुआ सब लोक-लोकान्तरों में—अर्थात् जितने ये लोक प्रत्यक्ष दीखते हैं तथा जो नहीं दीखते उन सब में—घूमता है। जिस जीवात्मा को जितना ज्ञान अधिक होता है उसको उतना ही आनन्द भी अधिक होता है। मुक्ति में जीवात्मा के निर्मल होने से उसको सब सन्निहित पदार्थों का भान यथावत् होता है। इसी सुख-विशेष के भोगने का नाम स्वर्ग तथा सांसारिक सुख को सामान्य-स्वर्ग कहते हैं।

मुक्ति से लौटने में 'वैदिक प्रमाण

वेदों का सिद्धान्त यह है कि जीव मुक्ति के सुख को भोगकर पुनः संसार में आता है, अर्थात् माता-पिता से जन्म धारण करता है। इस सम्बन्ध में निम्न-लिखित मन्त्र स्मरणीय है। यथा—

**अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्यनाम।**
**स नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च॥**
**ऋग्वेद, १।२४।२॥**

इसका अर्थ यह है कि "हम स्वप्रकाशस्वरूप, अनादि तथा सदा से मुक्त परमात्मा का नाम पवित्र जानें जो कि हमको मुक्ति में आनन्द भुगवा कर, पृथिवी में, पुनः माता-पिता द्वारा जन्म देकर माता-पिता का दर्शन कराता है"। इससे प्रतीत होता है कि जीवात्मा, परमात्मा की व्यवस्था द्वारा, मुक्ति से अवश्य लौटता है। कई स्थानों में यद्यपि लिखा है कि जीव को "अत्यन्त मुक्ति" मिलती है परन्तु वहाँ अत्यन्त का यह अर्थ नहीं कि उसका अन्त फिर होता ही नहीं। अपितु अत्यन्त शब्द का अर्थ "बहुत" भी होता है। अतः "अत्यन्त मुक्ति"—का यह अर्थ भी हो सकता है कि बहुत काल के लिये मुक्ति, न कि ऐसी मुक्ति जिसका कि पुनः अन्त ही न हो।

यहाँ यह नहीं कहना चाहिये कि मुक्ति प्राप्त कर यदि पुनः

लौटना ही है तो मुक्ति की प्राप्ति के लिये यत्न ही क्यों किया जाय ? क्योंकि मुक्ति का सुख परान्त* काल तक अथवा छत्तीस हज़ार बार सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय का जितना समय होता है उतने समय तक निरन्तर मिलता रहता है। यह काल कोई कम नहीं है कि इतने काल पर्यन्त निरन्तर सुख के लिये कोई यत्न न किया जाय। संसार में क्षणिक सुखों के लिये भी जब हम दिन-रात लगे रहते हैं तो इतने बड़े काल के सुख के लिये हमें यत्न न करना चाहिये, क्योंकि मुक्ति से तो पुनः लौटना ही है—यह कथन मूर्खता मात्र ही है।

मुक्ति से लौटने में युक्तियां

"मुक्ति सान्त है"—इसमें निम्नलिखित युक्तियां हैं। यथा:—

१—जीवात्मा का सामर्थ्य, शरीरादि पदार्थ और साधन परिमित हैं। अतः इन परिमित साधनों से प्राप्त फल अर्थात् मुक्ति अनन्त कैसे हो सकती है ?। यदि मान लिया जाय कि अन्त वाले कर्मों का भी अनन्त फल मिल सकता है तो परमात्मा का न्याय नियम नष्ट हो जायगा। अल्प और अल्प सामर्थ्य वाले जीव को अनन्त सुख कैसे मिल सकता है ?

२—यदि मुक्ति से लौट कर कोई भी जीवात्मा संसार में पुनः न आए तो शनैः-शनैः संसार का ही उच्छेद हो जायगा क्योंकि जीव मुक्ति की ओर चलते चले जायँगे और लौटेंगे नहीं। इस प्रकार जब जीव ही समाप्त हो जायँगे, तो संसार किसके लिये होगा ?

---

*इसकी गणना नवम समुल्लास में इस प्रकार की है। ४३२०००० वर्ष=एक चतुर्युगी। २००० चतुर्युगी=एक अहोरात्र। ऐसे ३० अहोरात्र=एक मास। ऐसे १२ मास=एक वर्ष। ऐसे १०० वर्ष=एक परान्त काल।

यदि कहा जाय कि "जितने जीव मुक्ति प्राप्त करते जाते हैं उतने ही जीव परमात्मा और बना लेता है इसलिये संसार के उच्छेद का कोई भय नहीं"—तो यह भी युक्तियुक्त नहीं। यदि ऐसा हो तो जीव अनित्य हो जाँयगे। क्योंकि जिसकी उत्पत्ति होती है उसका नाश भी अवश्य होता है। इस प्रकार बने जीवों को जब मुक्ति मिलेगी तो मुक्ति प्राप्त कर लेने पर भी उन जीवों का नाश हो ही जायगा, चूंकि वे बनाए गये हैं। इस मत में भी मुक्ति अनित्य ही रही, नित्य नहीं। क्योंकि जब जीव ही नष्ट हो जायगा तो उसकी मुक्ति कहाँ रही ?

३—साथ ही यह भी जानना चाहिये कि परमात्मा यदि नए-नए जीव बनाता जायगा तो जिस कारण से वह जीवों को बनाएगा वह कभी न कभी समाप्त हो जायगा। क्योंकि चाहे कितना भी बड़ा खज़ाना क्यों न हो, जिसमें व्यय है, और आय नहीं, कभी-न-कभी अवश्य समाप्त हो जायगा। और इस कारण-रूप ख़ज़ाने के समाप्त हो जाने पर परमात्मा पुनः नए जीव न बना सकेगा। मुक्ति से न लौटने पर संसार का विच्छेद पुनः अवश्यम्भावी हो जायगा।

४—यह भी जानना चाहिये कि सुख का अनुभव सापेक्ष-अनुभव है। विना दुःख के अनुभव के सुख का अनुभव चिर-काल तक नहीं हो सकता। जैसे कटु आदि पदार्थ न हों तो मधुर का और मधुर न हो तो कटु आदि का स्वाद अनुभव नहीं होता। या जैसे कोई मनुष्य यदि मीठा ही खाता जाय और मीठा ही पीता जाय तो उसे कुछ काल के पश्चात् मीठे में सुख का अनुभव न रहेगा, और यदि वह बीच-बीच में अन्यरसों का भी भोग कर लेता है तो मीठे के स्वाद में पुनः आनन्द का अनुभव करने लगता है, इसी प्रकार मुक्ति के आनन्द का भी यदि कभी विच्छेद न

होगा तो यह आनन्द भी आनन्दरूप से अनुभूत न हुआ करेगा; और वह मुक्ति ही क्या जिसमें कि आनन्द का अनुभव आनन्द-रूप से न हो?

जन्म-व्यवस्था

जगत् में, प्राणियों में, नाना प्रकार के वैषम्यों के देखने से ज्ञात होता है कि जीव के जन्म अनेक होते हैं। यदि इनका पूर्वजन्म न हो तो वर्तमान जन्म में इतने भारी वैषम्यों का कारण समझ में नहीं पड़ता। कोई सुखी और कोई दुःखी, कोई जन्म से राज-सुखों को भोगता और कोई जन्म से ही महादरिद्री, कोई बुद्धिमान् और कोई मूर्ख, कोई शरीर से हृष्टपुष्ट और कोई निर्बल—इत्यादि विषमताओं का समाधान विना पूर्वजन्मों के माने नहीं हो सकता। इसलिये यह मानना चाहिये कि पूर्व जन्म के पाप-पुण्यों के अनुसार तो वर्तमान जन्म होता है और वर्तमान तथा पूर्वजन्म के कर्मों के अनुसार भविष्यत् में जन्म होते हैं। इस प्रकार जीवात्मा के अनेक जन्म सिद्ध होते हैं।

अनेक जन्मों के होते हुए भी जीवात्मा को पूर्वजन्मों का स्मरण इसलिये नहीं होता चूँकि वह अल्पज्ञ है, त्रिकालदर्शी नहीं। पूर्व जन्म के स्मरण की बात तो दूर रही, इसी देह में जीव जब गर्भ में था, जब उसका शरीर बना और जन्मा—इन सब बातों का तथा जन्म के पश्चात् भी कई वर्षों तक की बातों का स्मरण जीवात्मा को क्यों नहीं होता? बड़े होने पर भी पूर्व वर्षों में हुई सब बातों का तथा उनके होने के उस-उस क्रम का पूरा-पूरा स्मरण नहीं रहता। जब इसी शरीर में ऐसी बात है तो पूर्वजन्म की बातों के सम्बन्ध में शंका करना केवल लड़कपन की ही बात है। तथा जो पूर्वजन्म का स्मरण नहीं होता इसी से जीव सुखी है, नहीं तो सब जन्मों के दुःखों का स्मरण कर जीव अत्यन्त

दुःखी हो जाया करते। जीव अपने कर्मों के अनुसार परमात्मा की व्यवस्था में कभी पुरुष के शरीर में जाता, कभी स्त्री के शरीर में, कभी पशु, कीट और पतंग आदि के शरीर में जाता है। जब पाप बढ़ जाता और पुण्य न्यून हो जाता है तब मनुष्य का जीव पशु आदि नीच शरीरों में जाता है। जब धर्म अधिक और अधर्म न्यून होता है तब देव अर्थात् विद्वानों का शरीर धारण करता है, जब पाप और पुण्य बराबर होता है तब साधारण मनुष्य का जन्म होता है। इन साधारण मनुष्यों में भी जो सुख-दुःख की मात्रा का अन्तर दिखाई देता है वह भी उनके कर्मों की उत्तमता, मध्यमता और निकृष्टता की अपेक्षिक मात्रा के अनुसार ही है। जब अधिक पाप का फल पशु आदि के शरीर में भोग लिया जाता है तब पाप और पुण्य के तुल्य हो जाने पर वह जीव पुनः मनुष्य शरीर में आता है।

इसी प्रकार अधिक पुण्य के कारण पुण्यात्मा मनुष्य के शरीर को धारण कर और पुण्य के फल को भोग लेने के पश्चात् फिर जीव अपने बचे कर्मों के अनुसार मध्यम कोटि या साधारण कोटि के मनुष्य का जन्म धारण करता है।

इस प्रकार अपने कर्मों के अनुसार, परमात्मा की व्यवस्था में बन्धा हुआ जीव, नाना प्रकार की योनियों में तब तक चक्कर काटता रहता है जब तक कि वह विद्या के प्रकाश से प्रकाशित हो मुक्त नहीं होता। मुक्त होने पर मुक्ति में चिरकाल तक आनन्द भोग वह पुनः इसी संसार चक्र में आ जाता है, और पुनः यत्न करने पर वह मुक्ति को प्राप्त करता है।

# दशम समुल्लास

## सदाचार, अनाचार, भक्ष्य और अभक्ष्य

धर्म या सदाचार

आचार और धर्म का एक ही अर्थ है। धर्मयुक्त कार्यों का आचरण, सुशीलता, सत्पुरुषों का संग, और सत्य के ग्रहण में रुचि आदि उत्तम कर्मों को सदाचार कहते हैं और इनसे विपरीत कर्मों को अनाचार। जिस कर्म का सेवन राग और द्वेष से रहित विद्वान् लोग नित्य करें तथा जिसके लिये हृदय अर्थात् आत्मा साक्षी दे कि यह सत्य है वह धर्म है और माननीय है। वेद, वेदों के जानने वालों द्वारा रचित धर्मशास्त्र, तथा उनके आचार-व्यवहार, और आत्मा का सन्तोष ये धर्म या सदाचार में प्रमाण हैं, अर्थात् इन द्वारा सदाचार का निर्णय करना चाहिये। आत्मा के सन्तोष का अभिप्राय यह है कि जिस कर्म के करने में भय, शंका और लज्जा का अनुभव न हो उस कर्म को भी धर्म या सदाचार ही जानना चाहिये। जैसे कि जिस समय कोई व्यक्ति मिथ्याभाषण या चोरी आदि की इच्छा करता है तो उसकी आत्मा में उसी समय, भय, शंका और लज्जा अवश्य उत्पन्न होती है, इसलिये यह धर्म या सदाचार नहीं। धर्म के ज्ञान का अधिकारी वही है जो कि लोभ और काम अर्थात् विषय सेवन में फँसा हुआ न हो। मनुष्य को चाहिये कि वह अपनी इन्द्रियों को जो कि चित्त को हरण कर उसे विषयों में प्रवृत्त कराती हैं, रोकने का प्रयत्न किया करे। जैसे सारथि घोड़े को रोककर उसे शुद्ध मार्ग में चलाता है इसी

प्रकार इन्द्रियों को अपने वश में कर, इन्हें अधर्म मार्ग से हटाकर, धर्म मार्ग में सदा चलाया करे।

स्नान नित्य किया करें। वस्त्रों तथा स्थान को सदा शुद्ध रखें और शुद्ध खान-पान किया करें। इससे चित्त की शुद्धि और आरोग्य प्राप्त होता है। माता-पिता आचार्य और अतिथि की सेवा किया करें।

पौराणिक लोगों ने जो यह माना हुआ है कि विदेश-गमन
से आचार नष्ट हो जाता है—मिथ्या है; क्योंकि
विदेश गमन से सदा मनुष्य सत्यभाषण आदि कर्मों को जहाँ कहीं
चार नष्ट नहीं होता भी करेगा तो वह आचार और धर्म से कभी
भ्रष्ट न होगा। और जो आर्यावर्त्त में रहकर भी
दुष्टाचार करेगा तो वह धर्मभ्रष्ट और आचारभ्रष्ट ही कहलाएगा। देखो! आर्यावर्त्त के हमारे प्राचीन पुरुष देश-विदेश की यात्रा—ज्ञान-चर्चा, विवाह, भ्रमण, व्यापार तथा विजय के लिये—किया करते थे। यथाः—

१—महाभारत शान्तिपर्व में लिखा है कि किसी समय व्यास जी अपने पुत्र शुक और शिष्यों सहित पाताल अर्थात् अमेरिका में निवास करते थे। शुक जी ने पिता से प्रश्न किया कि आत्मविद्या इतनी ही है या अधिक?। व्यास जी ने जानबूझ कर इस प्रश्न का उत्तर न दिया, क्योंकि इस बात का उपदेश वे एक बार पूर्व भी कर चुके थे। इस सम्बन्ध में दूसरे की साक्षी के लिये उन्होंने शुक से कहा कि हे पुत्र! तू मिथिलापुरी में जा, और यही प्रश्न वहाँ के राजा जनक से कर, वह इसका यथायोग्य उत्तर देगा। पिता का वचन सुन शुक जी अमेरिका से मिथिलापुरी की ओर चले। वह मेरु से हरिवर्ष अर्थात् युरोप गये, वहां से हूणदेश अर्थात् यहूदियों के देश गये, उसे देख चीन आए,

चीन से हिमालय और हिमालय से मिथिलापुरी आए।

२—महाभारत में यह भी लिखा है कि श्रीकृष्ण और अर्जुन अश्वतरी अर्थात् अग्नि-यान नौका पर बैठ पाताल अर्थात् अमेरिका गये थे और वहाँ से उद्दालक ऋषि को महाराज युधिष्ठिर के यज्ञ में लाए थे।

३—महाभारत में यह भी लिखा है कि धृतराष्ट्र का विवाह गान्धार की राजपुत्री से हुआ था। गान्धार को आजकल कन्धार कहते हैं। यह कन्धार अफगानिस्तान में है।

४—इसी प्रकार पाण्डु महाराज की स्त्री माद्री ईरान के राजा की कन्या थी, और अर्जुन ने अमेरिका के राजा की पुत्री उलोपी से विवाह किया था।

५ - मनुस्मृति में लिखा है कि समुद्र में जाने आने वाली नौकाओं पर कर लगाना चाहिये। यह तभी हो सकता है जब विदेशियों और उनके माल का आर्यावर्त्त में और आर्यावर्त्त के निवासियों और उनके माल का विदेश में जाना-आना सम्भव हो।

६—साथ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि महाराज युधिष्ठिर ने जब राजसूय यज्ञ रचाया था तब उसने अपने यज्ञ में आने का निमन्त्रण भूगोल के सब राजाओं को दिया था। और इसके लिये भीम, अर्जुन. नकुल तथा सहदेव को चारों दिशाओं में भेजा था।

इनसे प्रतीत होता है किप्र थम आर्यावर्त्तदेशीय लोग देशान्तरों तथा द्वीप-द्वीपान्तरों में जाया करते थे। जो उन्हें भी आजकल की तरह छुआछूत का भय या धर्म भ्रष्ट होने का भय होता तो वे देश-विदेश में क्यों जाया करते ? यह भय तो मूर्खों के बहकाने और अज्ञान के बढ़ने के कारण हुआ है। देश-देशान्तरों तथा द्वीप-द्वीपान्तरों में जाने से उन-उन देशों तथा द्वीपों के अनेक विध मनुष्यों का सङ्ग

होता है और उनकी रीति-नीति के देखने अवसर मिलता है, अपना राज्य और व्यापार बढ़ता है, इससे लोग निर्भय और शूरवीर होने लगते हैं, तथा अच्छे व्यवहारों का ग्रहण और बुरी बातों के त्याग करने में तत्पर हो बड़े ऐश्वर्य को प्राप्त होते हैं। भला देश-देशान्तर के उत्तम पुरुषों के साथ संग में छुआछूत और दोष ही क्या है! यह तो ठीक है कि विदेश में जाकर उनके मांसभक्षण और मद्यपान आदि दोषों का ग्रहण नहीं करना चाहिये, परन्तु उनके सद्‌गुणों के ग्रहण में क्या दोष है! जब इनके स्पर्श और देखने से भी मूर्खजन पाप गिनते हैं तो वे इनसे युद्ध कैसे कर सकते हैं? क्योंकि युद्ध में उनका देखना और स्पर्श होना आवश्यक है। साथ ही यह भी समझ लेना चाहिये कि धर्म हमारे आत्मा और कर्त्तव्य के साथ सम्बन्ध रखता है। जब हम अच्छे काम करते हैं तो हम को देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर में जाने से कुछ भी दोष नहीं लग सकता। इतना अवश्य चाहिये कि हम वेदोक्त धर्म का निश्चय, और पाखण्ड मत का खण्डन करना अवश्य सीखलें, जिससे कोई हमको झूठा निश्चय न करा सके।

**कच्चा और पक्का भोजन**

पाखण्डी लोग जल में पकाई वस्तु को कच्चा भोजन तथा घी और दूध में पकाई वस्तु को पक्का भोजन कहते हैं। इस प्रकार के कच्चे भोजन को वे सखरी तथा पक्के भोजन को निखरी अर्थात् चोखी भी कहते हैं। भोजन के सम्बन्ध में इस प्रकार के कच्चे पक्के का भेद पाखण्ड मात्र ही है। घी और दूध में पका भोजन खाने में स्वादु तथा पौष्टिक होता है इसलिये भोजन-भट्टों ने इस प्रकार कच्चे पक्के का प्रपञ्च रचा है। नहीं तो अग्नि वा काल से पका हुआ पदार्थ पक्का और न पका हुआ कच्चा होता है।

इसी प्रकार भारतवर्ष में अपने हाथ के बनाए भोजन के खाने,

अपने हाथ की रसोई

का भी भ्रम फैला हुआ है। द्विज लोगों को चाहिये कि वे शूद्र के हाथ का बनाया भोजन खाया करें। क्योंकि ब्राह्मणों, क्षत्रियों, और वैश्यों तथा उनकी स्त्रियों को चाहिये कि वे अपने समय को विद्या पढ़ने, राज्य के पालने, तथा पशुपालन, खेती और व्यापार के कार्यों में लगावें। देखो! इस सम्बन्ध में आपस्तम्ब-धर्मसूत्र का निम्नलिखित प्रमाण है—

**आर्याधिष्ठिता वा शूद्राः संस्कर्त्तारः स्युः ॥**

अर्थात् आर्यों के घर में शूद्र अर्थात् मूर्ख स्त्री पुरुष उनका भोजन तय्यार किया करें। परन्तु इन शूद्रों को शरीर और वस्त्र आदि की दृष्टि से पवित्र रखना चाहिये। आठवें दिन उनका नख छेदन और क्षौरकर्म करा देना चाहिये। वे नित्य स्नान कर भोजन बनाया करें। जो स्वच्छ शूद्र के हाथ का भोजन खाने में पाप समझते हैं उन्हें जानना चाहिये कि जिसने गुड़, चीनी, घी, दूध, शाक, फल और मूल खाए उसने जगत् भर के हाथ का बनाया और उच्छिष्ट खा लिया। देखो! महाभारत युद्ध में सब लोग, लड़ाई में, सवारियों पर खाते पीते थे। तथा महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में भूगोल के राजा, ऋषि और महर्षि आये थे, और एक ही पाकशाला से भोजन किया करते थे। अब तो भारतवर्ष में चौके और रसोई के प्रश्न ने भारत के स्वातन्त्र्य, आनन्द, धन, राज्य, विद्या और पुरुषार्थ पर ही चौका लगा दिया है। हाँ, मद्यमांसाहारियों के—जिनका कि शरीर मद्यमांस के परमाणुओं ही से पूरित है उनके—हाथ का भोजन तो न खाना चाहिये, और न चाण्डाल, भंगी तथा चमार आदि के हाथ का भोजन खाना चाहिये।

भक्ष्य और अभक्ष्य दो प्रकार का होता है, एक धर्मशास्त्रोक्त

और दूसरा वैद्यकशास्त्रोक्त। धर्मशास्त्रों में लिखा

भक्ष्य और अभक्ष्य पदार्थ

है कि द्विजों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य स्त्री पुरुषों को विष्ठा मूत्र आदि के संसर्ग से उत्पन्न शाक, फल और मूल आदि न खाने चाहियें, और न किसी को मद्य, गांजा, भंग, अफीम आदि नशीले पदार्थों का और मांस का सेवन करना चाहिये। मांस खाने से मनुष्य का स्वभाव मांसाहारी होकर, हिंसक हो सकता है। भक्ष्य और अभक्ष्य के सम्बन्ध में नीचे कतिपय निर्देश लिखे जाते हैं। इन्हें सदा स्मरण रखना चाहिये। यथा:—

१—हिंसा, चोरी, विश्वासघात, छल और कपट आदि से पदार्थों को प्राप्त कर भोग करना अभक्ष्य कोटि का है, तथा अहिंसा और धर्म के अनुसार प्राप्त पदार्थों का भोजन भक्ष्यकोटि का है।

२—जिन पदार्थों से स्वास्थ्य बने, रोग का नाश हो, बल-बुद्धि पराक्रम की वृद्धि, और आयु की वृद्धि हो, उन पदार्थों का सेवन भक्ष्यकोटि का है।

३—जो पदार्थ अपनी प्रकृति के विरुद्ध हैं, और विकार उत्पन्न करने वाले हैं उनका सेवन अभक्ष्य कोटि का है, तथा जो अपनी प्रकृति के अनुकूल हैं, उनका सेवन भक्ष्य कोटि का है।

एक पात्र में साथ साथ भोजन

एक पात्र में साथ-साथ भोजन न करना चाहिये। इस में दोष हैं। क्योंकि इस से परस्पर एक दूसरे के रोग के संक्रमण का भय रहता है। इसलिये किसी का जूठा भी न खाए और न किसी को अपना जूठा देवे। गुरु आदि का जूठा भी कभी न खाए। गुरु के उच्छिष्ट भोजन के खाने का यह अभिप्राय है कि प्रथम गुरु को भोजन कराना चाहिये, गुरु के भोजन कर लेने पर पीछे जो कुछ पृथक् शेष अन्न बचे उसे स्वयं खाले।

# परिशिष्ट प्रकरण

## परमात्मा के १०० नाम

महर्षि दयानन्द जी ने सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास में परमात्मा के कई नाम लिखे हैं। उनके लिखने के पश्चात् महर्षि के निम्नलिखित शब्द मिलते हैं। यथा:—

### "ये १०० नाम परमेश्वर के हैं"

परन्तु सत्यार्थ प्रकाश में दिये नामों की गिनती पूरी सौ नहीं होती। एक दृष्टि से ये नाम सौ से कम होते हैं और दूसरी दृष्टि से अधिक। "अथ ओंकारार्थः—से आरम्भ कर (ओ३म् नाम को बीच में न गिनते हुए) विराट् से शिव पर्यन्त नाम संख्या में ९३ नाम होते हैं। इन में ९४ वाँ नाम है "गणेश वा गणपति"। महर्षि ने "गणेश वा गणपति"—इस प्रकार का लेख लिखकर ये दो नाम दिये हैं। यदि दोनों नामों को परमात्मा के नामों में सम्मिलित कर लिया जाय तो नाम संख्या ९४ हो जाती है, और "ओ३म्" नाम को साथ मिला लेने पर ९५। ५ नामों की इस प्रकार कमी रह जाती है।

"अथ ओकारार्थः"—इस लेख से पूर्व जो नाम दिये हैं जो कि विराट् और शिव इन नामों के मध्य में नहीं आते— संख्या में १० हैं। इस प्रकार कुल नाम ९५+१०=१०५ हो जाते हैं।

वह नामावली निम्नलिखित है। यथाः—

"अथ ओंकारार्थः—इस दोहा मे पूर्व के नाम"

अ, के ३ अर्थ उ, के ३ अर्थ म, के ३ अर्थ=ओ३म् के ९ अर्थ

१—ख
२—प्राण
३—अक्षर
४—स्वराट्
५—कालाग्नि
६—दिव्य
७—सुपर्ण
८—गरुत्मान्
९—मातरिश्वा
१०—भूमि

११—ओ३म्
१२—विराट्
१३—अग्नि
१४—विश्व
१५—हिरण्यगर्भ
१६—वायु
१७—तैजस
१८—ईश्वर
१९—आदित्य
२०—प्राज्ञ

२१—मित्र
२२—वरुण
२२—अर्यमा
१२—इन्द्र
२५—बृहस्पति

२६—विष्णु
२७—उरुक्रम
२८—ब्रह्म
२९—सूर्य
२०—परमात्मा

३१—परमेश्वर
३२—सविता
३३—देव
३४—कुवेर
३५—पृथिवी
३६—जल
३७—आकाश
३८—अन्न
३९—अन्नाद

५१—यज्ञ
५२—होता
५३—वन्धु
५४—पिता
५५—पितामह
५६ प्रपितामह
५६—माता
५८—आचार्य
५म—गुरु

४०—अत्ता
४१—वसु
४१—रुद्र
४३—नारायण
४४—चन्द्र
४५—मंगल
४६—बुद्ध
४७—शुक्र
४८—शनैश्चर
४९—राहु
५०—केतु
७१—बुद्ध
७२—मुक्त
७३—निराकार
७४—निरञ्जन
७५—गणेश
७६—गणपति
७७—विश्वेश्वर
७८—कूटस्थ
७९—देवी
८०—शक्ति
८१—श्री
८२—लक्ष्मी
८३—सरस्वती
८४—सर्वशक्तिमान्
८५—न्यायकारी

६०—अज
६१—ब्रह्म
६२—सत्य
६३—ज्ञान
६४—अनन्त
६५—अनादि
६६—आनन्द
६७—सत्
६८—चित्
६९—नित्य
७०—शुद्ध
८९—सगुण
९०—अन्तर्यामी
९१—धर्मराज
९२—यम
९२—भगवान्
९४—मनु
९५—पुरुष
९३—विश्वम्भर
९७—काल
९८—शेष
९९—आप्त
१०९—शंकर
१०१—महादेव
१०२—प्रिय
१०३—स्वयम्भू

८६—दयालु
८७ अद्वैत
८८—निर्गुण
१०३—कवि
१०५—शिव

यदि एक प्रकार से विचार किया जाय तो परमात्मा के नामों की सौ संख्या पूरी हो सकती है। यथा :—

(क) ओ३म्—नाम को इस गिनती में न गिना जाय क्योंकि यह परमात्मा का निज या स्वाभाविक नाम है। सौ की गिनती में केवल वहीं नाम गिने जायें जो कि परमात्मा के गौणिक या कार्मिय नाम हैं। अर्थात् जो नाम परमात्मा के किसी विशेष गुण या कर्म के सूचक हैं।

(ख) "गणेश वा गणपति"—इस लेख में यह समझा जाय कि महर्षि का अभिप्राय यहाँ एक नाम के गिनने का है, दो के गिनने का नहीं।

(ग) चूंकि महर्षि ने प्रथम समुल्लास में लिखा है कि "परन्तु इनसे भिन्न परमात्मा के असंख्य नाम हैं"- इस लेख द्वारा यह समझा जाय कि महर्षि ने प्रथम समुल्लास में १०० नामों से अतिरिक्त भी कतिपय नाम दृष्टान्तरूप में दर्शा दिये हैं, जिससे उनके उपरोक्त कथन की पुष्टि हो सके। परन्तु १०० नामों की सूची में किन नामों को सम्मिलित किया जाय और और किन्हें न किया जाय, इसका निर्णय महर्षि के लेख पर ही छोड़ दिया जाय। अर्थात् जहाँ महर्षि ने यह लिखा है कि "यह नाम ईश्वर का है"- उसे तो सूची में सम्मिलित कर लिया जाय और शेष नामों के सम्बन्ध में यह समझा जाय कि प्रसंगवश इन नामों की भी व्याख्या महर्षि ने कर दी है, परन्तु उनका अभिप्राय इन्हें १०० नामों की सूची में सम्मिलित करने का नहीं। इस आधार पर "अक्षर" और

"स्वराट्"—ये दो नाम सूची से पृथक् हो जाते हैं।

(घ) चूंकि "काल और अग्नि" - इन दो नामों की व्याख्या महर्षि ने पृथक् रूप से भी की है और 'कालाग्नि' नाम 'अथ ओंकारार्थः'—से प्रारम्भ सूची से पूर्व गिनाया गया है- इस लिये इसे असली सूची में सम्मिलित न किया जाय। क्योंकि 'काल' और अग्नि' - के अर्थों को देख कर पाठक 'कालाग्नि' का अर्थ स्वयमेव समझ सकता है। इस प्रकार गिनाई १०५ की सूची में से उपरोक्त आधारों पर यदि ५ नाम काट दिये जायँ तो १०० संख्या रह जाती है। वे ५ नाम निम्नलिखित हैं। यथाः—

१—ओ३म

२—गणेश या गणपति में से कोई एक

३—अक्षर

४—स्वराट्

५—कालाग्नि

——:०:——

# स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश

नीचे ५१ सिद्धान्त दिये जाते हैं जिनका नाम महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में 'स्वमन्तव्यामन्तव्य' दिया है। महर्षि इन सिद्धान्तों को मानते थे। महर्षि ने 'स्वमन्तव्यामन्तव्य'—की भूमिका के रूप में लिखा है कि ये ५१ सिद्धान्त वेदादि सत्यशास्त्रों के अनुकूल हैं तथा ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि पर्यन्त ऋषि मुनि इन सिद्धान्तों को मानते आए हैं। इन ५१ सिद्धान्तों के प्रकाशित करने में महर्षि दयानन्द का असली अभिप्राय यह था कि संसार में सत्य का प्रकाश और असत्य का नाश हो। वे कोई नया पन्थ

या मत इन सिद्धान्तों के आधार पर चलाना नहीं चाहते थे। उन्हें ये सिद्धान्त सत्य प्रतीत हुए, वेदादि सत्यशास्त्रों द्वारा प्रतिपादित तथा ऋषि मुनियों द्वारा अनुमोदित प्रतीत हुए इसीलिये वे इन का प्रचार करना चाहते थे। ५१ सिद्धान्त महर्षि की नवीन कल्पना के फल रूप नहीं हैं, अपितु चूंकि ये सत्य सिद्धान्त हैं और इनके प्रचार पर संसार का कल्याण निर्भर है इसीलिये महर्षि इन सिद्धान्तों का प्रचार करना चाहते थे। ये सिद्धान्त सम्पूर्ण सत्यार्थ-प्रकाश के निचोड़ रूप हैं। ये सिद्धान्त निम्नलिखित हैं। यथा:—

१—ईश्वर, जिसके कि ब्रह्म, परमात्मा आदि नाम हैं, जो सच्चिदानन्द आदि लक्षण युक्त है, जिसके गुण-कर्म-स्वभाव पवित्र हैं, जो सर्वज्ञ, निराकार, सर्वव्यापक, अजन्मा, अनन्त, सर्वशक्तिमान्, दयालु, न्यायकारी, सब सृष्टि का कर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता, सब जीवों को कर्मानुसार सत्य न्याय से फलदाता आदि लक्षण युक्त है, उसी को परमेश्वर मानता हूँ।

२—चारों वेदों (विद्याधर्मयुक्त ईश्वरप्रणीत संहितामन्त्रभाग) को निर्भ्रान्त स्वतःप्रमाण मानता हूँ। वे स्वयं प्रमाणरूप हैं, जिन के कि प्रमाण होने में किसी अन्य ग्रन्थ की अपेक्षा नहीं। जैसे सूर्य वा प्रदीप अपने स्वरूप के स्वतः प्रकाशक और पृथिव्यादि के भी प्रकाशक होते हैं, वैसे चारों वेद हैं। और चारों वेदों के ब्राह्मण, छः अंग, छः उपांग, चार उपवेद, और ११२७ वेदों की शाखाएं, जो कि वेदों के व्याख्यानरूप ब्रह्मा आदि महर्षियों के बनाए ग्रन्थ हैं—उनको परतःप्रमाण अर्थात् वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण और जो इनमें वेदविरुद्ध वचन हैं उनका अप्रमाण मानता हूँ।

३—जो पक्षपात रहित, न्यायाचरण, सत्य-भाषण आदि ईश्वराज्ञा वेदों के अनुकूल है उसको धर्म; और जो पक्षपात सहित,

अन्यायाचरण, मिथ्या भाषण आदि ईश्वराज्ञा-भंग वेद-विरुद्ध है उसको अधर्म मानता हूँ।

४—जो इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और ज्ञान आदि गुणयुक्त, अल्पज्ञ, नित्य है—उसी को जीव मानता हूँ।

५—जीव और ईश्वर, स्वरूप और वैधर्म्य से भिन्न और व्याप्य व्यापक, और साधर्म्य से अभिन्न हैं। अर्थात् जैसे आकाश से मूर्तिमान् द्रव्य कभी भिन्न न था, न है, न होगा, और न कभी एक था, न है, न होगा, इसी प्रकार परमेश्वर और जीव को व्याप्य व्यापक, उपास्य उपासक और पिता पुत्र आदि सम्बन्ध युक्त मानता हूँ।

६—अनादि पदार्थ तीन हैं, एक ईश्वर, द्वितीय जीव, तीसरा प्रकृति अर्थात् जगत् का कारण। इन्हीं को नित्य भी कहते हैं। जो नित्य पदार्थ हैं, उनके गुण-कर्म-स्वभाव भी नित्य हैं।

७—प्रवाह से अनादि। जो संयोग से द्रव्य-गुण-कर्म उत्पन्न होते हैं वे वियोग के पश्चात् नहीं रहते। परन्तु जिससे प्रथम संयोग होता है वह सामर्थ्य उनमें अनादि है, और उससे पुनरपि संयोग होता तथा वियोग भी। इन तीनों को प्रवाह से अनादि मानता हूँ।

८—सृष्टि उसको कहते हैं जो पृथक् द्रव्यों का, ज्ञानयुक्ति पूर्वक मेल होकर, नानारूप बनना।

९—सृष्टि का प्रयोजन यही है कि जिसमें ईश्वर के सृष्टि निमित्त गुण-कर्म-स्वभाव का साफल्य होना। जैसे किसी ने किसी से पूछा कि नेत्र किस लिये हैं? उसने कहा देखने के लिये। वैसे ही सृष्टि करने के ईश्वर के सामर्थ्य की सफलता सृष्टि करने में है, और जीवों के कर्मों का यथावत् भोग करना आदि भी।

१०—सृष्टि सकर्तृक है। इसका कर्ता पूर्वोक्त ईश्वर है।

क्योंकि जड़ पदार्थ में अपने आप यथायोग्य वीजादि स्वरूप बनने का सामर्थ्य न होने से सृष्टि का कर्ता अवश्य है।

११—बंध सनिमित्तक अर्थात् अविद्या निमित से है। जो २ पाप कर्म, ईश्वरभिन्नोपासना, अज्ञान आदि सब दुःख फल करने वाले हैं इसीलिये यह "बंध" है, कि जिसकी इच्छा नहीं और भोगना पड़ता है।

१२—मुक्ति अर्थात् सर्व दुःखों से छूटकर बंधरहित सर्व-व्यापक ईश्वर और उसकी सृष्टि में स्वेच्छा से विचरना, नियत समय पर मुक्ति के आनन्द को भोगकर पुनः संसार में आना।

१३—मुक्ति के साधन—ईश्वरोपासना अर्थात् योगाभ्यास, धर्मानुष्ठान, ब्रह्मचर्य से विद्या प्राप्ति, आप्त विद्वानों का संग, सत्य-विद्या, सुविचार और पुरुषार्थ आदि हैं।

१४—अर्थ वह है कि जो धर्म ही से प्राप्त किया जाय; और जो अधर्म से सिद्ध होता है उसको अनर्थ कहते हैं।

१५—काम वह है कि जो धर्म और अर्थ से प्राप्त किया जाय।

१६—वर्णाश्रम—गुण कर्मों की योग्यता से मानता हूँ।

१७—राजा उसी को कहते हैं जो शुभ गुण-कर्म-स्वभाव से प्रकाशमान, पक्षपात रहित न्यायधर्म की सेवा (करे), प्रजाओं में पितृवत् वर्ते, और उनको पुत्रवत् मानकर उनकी उन्नति और सुख बढ़ाने में सदा यत्न किया करे।

१८—प्रजा उसको कहते हैं कि जो पवित्र गुण-कर्म-स्वभाव को धारण करके, पक्षपात रहित न्यायधर्म के सेवन से राजा और प्रजा की उन्नति चाहती हुई, राजविद्रोहरहित, राजा के साथ पुत्रवत् वर्ते।

१९—जो सदा विचार कर असत्य को छोड़ सत्य का ग्रहण करे, अन्यायकारियों को हटावे और न्यायकारियों को बढ़ावे,

अपने आत्मा के समान सब का सुख चाहे, सो न्यायकारी है। उसको मैं भी ठीक मानता हूँ।

२०—विद्वानों को देव, और अविद्वानों को असुर, पापियों को राक्षस, अनाचारियों को पिशाच मानता हूँ।

२१—उन्हीं विद्वानों, माता, पिता, आचार्य, अतिथि, न्यायकारी, राजा और धर्मात्माजन, पतिव्रता स्त्री और स्त्रीव्रत पति का सत्कार करना देवपूजा कहाती है। इससे विपरीत अदेवपूजा। इनकी मूर्त्तियों को पूज्य और इतर पाषाणादि जड़ मूर्त्तियों को सर्वदा अपूज्य समझता हूँ।

२२—शिक्षा। जिससे विद्या, सभ्यता, धर्मात्मता, जितेन्द्रियता आदि की बढ़ती होवे, और अविद्या आदि दोष छूटें, उसको शिक्षा कहते हैं।

२३—पुराण। जो ब्रह्मा आदि के बनाए ऐतरेय आदि ब्राह्मण पुस्तक हैं। उन्हीं को पुराण, इतिहास, कल्प, गाथा और नाराशंसी नाम से मानता हूँ, अन्य भागवत आदि को नहीं।

२४—तीर्थ। जिस से दुःखसागर से पार उतरें, कि जो सत्य भाषण, विद्या, सत्संग, यम आदि, योगाभ्यास, पुरुषार्थ, विद्यादान आदि शुभ कर्म हैं उन्हीं को तीर्थ समझता हूं। इतर जल, स्थल आदि को नहीं।

२५—पुरुषार्थ प्रारब्ध से बड़ा इसलिए है कि जिससे संचित प्रारब्ध बनते, जिसके सुधरने से सब सुधरते और जिसके बिगड़ने से सब बिगड़ते हैं, इसी से प्रारब्ध की अपेक्षा पुरुषार्थ बड़ा है।

२६—मनुष्य को सब से यथायोग्य, स्वात्मवत्—सुख-दुःख, हानि-लाभ में वर्तना श्रेष्ठ, अन्यथा वर्तना बुरा समझता हूं।

२७—संस्कार उसको कहते हैं कि जिससे शरीर, मन और आत्मा उत्तम होवे। वह निषेकादि श्मशानान्त १६ प्रकार का है।

इसको कर्तव्य समझता हूँ। और दाह के पश्चात् मृतक के लिए कुछ भी न करना चाहिये।

२८—यज्ञ उसको कहते हैं कि जिसमें विद्वानों का सत्कार, यथायोग्य शिल्प अर्थात् रसायन जो कि पदार्थविद्या उससे उपयोग और विद्यादि शुभ गुणों का दान, अग्निहोत्रादि जिनसे वायु, वृष्टि, जल ओषधि की पवित्रता करके सब जीवों को सुख पहुंचाना है, उसको उत्तम समझता हूँ।

२९—जैसे आर्य श्रेष्ठ और दस्यु दुष्ट मनुष्यों को कहते हैं, वैसे ही मैं भी मानता हूं।

३०—आर्य्यावर्त्त देश इस भूमि का नाम इसलिये है कि इस में आदि सृष्टि से आर्य लोग निवास करते हैं। परन्तु इसकी अवधि उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विंध्याचल, पश्चिम में अटक और पूर्व में ब्रह्मपुत्रा नदी है। इन चारों के बीच में जितना देश है उसको आर्यावर्त्त कहते हैं, और जो इन में सदा रहते हैं उनको भी आर्य्य कहते हैं।

३१—जो साङ्गोपाङ्ग वेद विद्याओं का अध्यापक, सत्याचार का ग्रहण और मिथ्याचार का त्याग करावे वह आचार्य्य कहाता है।

३२—शिष्य उसको कहते हैं कि जो सत्यशिक्षा और सत्य-विद्या को ग्रहण करने योग्य, धर्मात्मा, विद्या ग्रहण की इच्छा (वाला) और आचार्य्य का प्रिय करने वाला है।

३३—गुरु। माता, पिता, और जो सत्य को ग्रहण करावे और असत्य को छुड़ावे वह भी गुरु कहाता है।

३४—पुरोहित—जो यजमान का हितकारी, सत्योपदेष्टा होवे।

३५—उपाध्याय—जो वेदों के एकदेश वा अंगों को पढ़ाता हो।

३६—शिष्टाचार—जो धर्माचरण पूर्वक ब्रह्मचर्य से विद्या-ग्रहण कर, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य

का ग्रहण, असत्य का परित्याग करना है यही शिष्टाचार है और जो इसको करता है वह शिष्ट कहाता है।

३७—प्रत्यक्ष आदि आठ प्रमाणों को भी मानता हूं।

३८—आप्त। जो यथार्थवक्ता, धर्मात्मा, सब के सुख के लिये प्रयत्न करता है, उसी को आप्त कहता हूँ।

३९—परीक्षा ५ प्रकार की है। इस में के प्रथम जो ईश्वर, उसके गुण-कर्म-स्वभाव और वेद विद्या। दूसरी प्रत्यक्ष आदि आठ प्रमाण। तीसरी सृष्टिक्रम। चौथी आप्तों का व्यवहार। और पचवीं अपने आत्मा की पवित्रता, विद्या। इन पाँच परीक्षाओं से सत्यासत्य का निर्णय करके, सत्य का ग्रहण असत्य का परित्याग करना चाहिये।

४०—परोपकार। जिससे सब मनुष्यों के दुराचार दुःख छूटें, श्रेष्ठाचार और सुख बढ़े, उसके करने को परोपकार कहता हूँ।

४१—स्वतन्त्र, परतन्त्र। जीव अपने कामों में स्वतन्त्र और कर्मफल भोगने में ईश्वर की व्यवस्था से परतन्त्र है, वैसे ही ईश्वर अपने सत्याचार आदि काम करने में स्वतन्त्र है।

४२—स्वर्ग नाम सुखविशेष भोग, और उसकी सामग्री की प्राप्ति का है।

४३—नरक जो दुःखविशेषभोग और उसकी सामग्री की प्राप्ति होना है।

४४—जन्म जो शरीर धारण कर प्रकट होना। सो पूर्व, पर और मध्य भेद से तीनों प्रकार का मानता हूं।

४५—शरीर के संयोग का नाम जन्म, और वियोग मात्र को मृत्यु कहते हैं।

४६—विवाह। जो नियमपूर्वक प्रसिद्धि से, अपनी इच्छा करके पाणिग्रहण करना वह विवाह कहाता है।

४७—नियोग। विवाह के पश्चात्, पति के मर जाने आदि

में अथवा नपुंसकत्वादि स्थिर रोगों में, स्त्री वा आपत्काल में पुरुष, स्ववर्ण वा अपने से उत्तम वर्णस्थ स्त्री वा पुरुष के साथ सन्तानोत्पत्ति करना।

४८—स्तुति। गुण कीर्त्तन, श्रवण और ज्ञान होना इसका फल प्रीति आदि होते हैं।

४९—प्रार्थना—अपने सामर्थ्य के उपरान्त, ईश्वर के संबन्ध से जो विज्ञान आदि प्राप्त होते हैं उनके लिये ईश्वर से याचना करना। और इस का फल निरभिमान आदि होता है।

५०—उपासना। जैसे ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव पवित्र हैं वैसे अपने करना। ईश्वर को सर्वव्यापक अपने को व्याप्य जान के ईश्वर के समीप हम और हमारे समीप ईश्वर है ऐसा निश्चय योगाभ्यास से साक्षात् करना—उपासना कहाती है। इसका फल ज्ञान की उन्नति आदि है।

५१—सगुणनिर्गुण स्तुति प्रार्थनोपासना। जो २ गुण परमेश्वर में हैं उन से युक्त, और जो २ नहीं हैं उनसे पृथक् मान कर प्रशंसा करना सगुणनिर्गुणस्तुति; शुभगुणों के ग्रहण की इच्छा, और दोष छुड़ाने के लिये, परमात्मा का सहाय चाहना सगुणनिर्गुण प्रार्थना; और सब गुणों से सहित, सब दोषों से रहित परमेश्वर को मान कर, अपने आत्मा को उसके और उसकी आज्ञा के अर्पण कर देना सगुणनिर्गुणोपासना होती है।

ये सिद्धान्त हैं। इन्हें महर्षि के "स्वमन्तव्यामन्तव्य" भी कहते हैं। इनकी विशेष व्याख्या सत्यार्थप्रकाश के भिन्न-भिन्न प्रकरणों में प्रसंगवश की गई है। साथ ही महर्षि कृत "ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका" आदि ग्रन्थों में भी मिलती है। महर्षि इन ५१ सिद्धान्तों का सर्वत्र प्रचार करना चाहते थे। उनकी इच्छा थी कि झगड़े और फ़साद के जो कारण बने हुए हैं उनका नाश हो और

एक स्वच्छ वैदिकधर्म का उज्ज्वल प्रकाश सर्वत्र फैल जाय।

——

❀ ओ३म् ❀

# आर्य्यसमाज के नियम

१—सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सब का आदि मूल परमेश्वर है।

२—ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान् न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है उसी की उपासना करनी योग्य है।

३—वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना पढ़ाना, सुनना सुनाना, सब आर्यों का परम धर्म है।

४—सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।

५—सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार कर करने चाहिएँ।

६—संसार का उपकार करना आर्य्यसमाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७—सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिए।

८—अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।

९—प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहना चाहिए, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

१०—सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।

पं० विश्वनाथ स्मृति संग्रह

## बालकों के लिए कुछ शिक्षाप्रद पुस्तकें

१. **हमारे स्वामी**—आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान् श्री पं० चमूपति एम. ए. लिखित महर्षि दयानन्द का सरल, रोचक शिक्षापूर्ण जीवन चरित्र। सभी आर्य स्कूलों में पढ़ाया जाता है। मूल्य आठ आना।

२. **महाराणा प्रताप**—(लेखक श्री विश्वनाथ एम. ए.)—प्रताप का वीरतापूर्ण चरित्र पढ़कर बच्चे वीर बनेंगे। रंगदार छपाई, मोटा टाइप, सरल भाषा। मूल्य छः आना।

३. **बाल शिवाजी**—(लेखक-श्री सत्यकाम विद्यालङ्कार)—वीर शिवाजी का संपूर्ण इतिहास बड़े सुन्दर ढंग से दिया गया है। मूल्य छः आना।

8249

४. **वीर अभिमन्यु**—( लेखक-पं० लोकनाथ आर्योपदेशक )-वीर बालक अभिमन्यु की जीवनी प्रत्येक बालक को अवश्य पढ़नी चाहिए। मूल्य छः आना।

५. **रसीली कहानियां**—(लेखक-श्री विश्वनाथ एम. ए.)-इसमें एक से एक मजेदार कहानियां हैं। मूल्य छः आना।

६. **संसार की कहानियां**—( लेखक-श्री धर्मवीर एम. ए. )—मूल्य आठ आना।

७. **पारस**—( लेखक-श्री सुदर्शन )—मूल्य आठ आना।

---

प्रकाशक-राजपाल ऐंड सन्ज़,आर्य्य पुस्तकालय,अनारकली, लाहौर।
मुद्रक—विश्वनाथ एम. ए. आर्य प्रेस, लिमिटेड, लाहौर।

UKUL KANGRI LIBRARY
Accos on 19/3/12
Class on
Cat on
Tag etc. Bharma 21.11.03
Checked
Any Other

# * हमारे स्वामी *

लेखक—स्व० पंडित चमूपति जी एम० ए०

हमारे स्वामी बच्चों के लिए महर्षि दयानन्द जी सरस्वती का सुन्दर, सरल और बड़ा ही रोचक जीवन चरित्र है। इसमें स्वामी जी के जीवन की घटनाओं को कहानियों के रूप में देकर और इनसे जो शिक्षाएं मिलती हैं वे भी दिखाई हैं। यह पुस्तक पंजाब आर्य शिक्षा समिति और अखिल भारतीय आर्य कुमार परिषद की ओर से स्वीकृत है और सभी स्कूलों में लगी हुई है।

बढ़िया कागज़ रंगदार छपाई-सचित्र-मोटा टाइप

मूल्य आठ आना

## राजपाल एन्ड संज़
## आर्य पुस्तकालय
## अनारकली लाहौर

Only title pages printed at Durga Art Press, Lahore

PAYMENT PROCESSED
Vide Bill No 6 46 Dated
Binder